

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 2, अंक : 5, अप्रैल - जून 2015

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल



विद्यार्थी मंच

मूल्य : 50 रुपये

उस पार से...

भीष्म साहनी

(08 अगस्त 1915 - 11 जुलाई 2003)



भीष्म साहनी का जन्म अविभाजित भारत के रावलपिंडी (पाकिस्तान) में 8 अगस्त, 1915 को हुआ। प्रेमचंद की यथार्थवादी कथा परंपरा ने उन्हें अपनी ओर खींचा। प्रगतिशील आंदोलन की पृष्ठभूमि पर भीष्म साहनी अपने लेखन को बुलंद करते हैं। उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से सामाजिक विषमता एवं उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाने की कोशिश की है। वे मानवीय संवेदना के सशक्त हस्ताक्षर थे, उन्होंने सांप्रदायिकता एवं कट्टरता का घोरतम विरोध किया। उन्होंने शोषण की पड़घंत्रकारी प्रवृत्तियों एवं भ्रष्ट राजनीति के खोखलेपन का सदा खिलाफत किया। 'तमस' उपन्यास हो या 'कबिरा खड़ा बाजार में' नाटक उनकी इसी विचार चेतना को उजागर करते हैं। अपने जन्म के सौवें वर्ष के अनन्तर भी भीष्म साहनी के विचार उठने की प्रासंगिक हैं जितने उनके जीवन काल में थे।

इसी प्रसंग में यहाँ उनके साक्षात्कार के एक अंश को उद्धृत करना चाहूँगी जिसे सन् 1988 में राणा प्रताप एवं सलिल सुधाकर ने 'पाटलिपुत्र टाइम्स' के लिए लिया था।

प्रश्न : आजादी के 41 साल में कांग्रेस सरकार ने धार्मिक पुनरुत्थानवाद एवं सांप्रदायिकता की भावना को बल पहुँचाया है और उसके विपरीत वामपंथी या प्रगतिशील आंदोलन ने ढंग से काम नहीं किया है ?

उत्तर : जहाँ तक वामपंथी विचारधारा का सवाल है उसकी दृष्टि तो बहुत साफ है। पर यह बड़े खेद की बात है कि हमारी जो धर्मनिरपेक्ष पद्धति है, उसे हम मजबूत नहीं कर पाये। इसमें कमजोरियाँ तो रही हैं। लेकिन मैं इसका दोष वामपंथी पार्टियों को नहीं देता। दरअसल जिसे जो करना चाहिए था, वह पूरी तरह नहीं कर पाया। पर अब चूंकि खतरनाक स्थिति पैदा हो चुकी है तो वह बार-बार चेतावनी दे रही है कि अब वक्त ऐसा है कि जो कर सकते हो करो।

(पाटलिपुत्र टाइम्स, पटना, रविवार 21 फरवरी 1988)

लेखक के जन्म शत वर्ष पर उनके द्वारा प्रदत्त क्रांतिकारी विचारों एवं परिवर्तनशील चेतना का स्वागत करता है **मुक्तांचल परिवार!**

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-2, अंक- 5, जुलाई-सितम्बर 2015

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : सुनील कुमार साव
कला संपादक : शुभांगता श्रीवास्तव

व्यवस्थापन :

सुलेखा कुमारी, सोनम सिंह, जीवन सिंह,
मृत्युंजय पाण्डेय, नगीना लाल दास,

विशेष सहयोग :

डॉ. सुनीता साव, डॉ. दीपान्विता माजि, (कोलकाता)
डॉ. मनीषा झा (दार्जिलिंग), डॉ. पुनीत कुमार राय
(छत्तीसगढ़), लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता (वाराणसी), डॉ. रविकांत
(लखनऊ), मनोज कुमार साव (उत्तराखंड), राजीव रंजन
(दिल्ली), आनंद प्रसाद नोनिया (भुवनेश्वर)

आकल्पन : सोनू प्रजापति

संपादन और प्रकाशन- अवैतनिक
पत्रिका में व्यक्त विचार से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 7195/1686
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,
Email : sinhameera48@gmail.com
सह- संपादक : 098308 39032
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com
प्रबंध संपादक : 09836943231
Email : shawsunil30@gmail.com

मुद्रक

शिक्षण

50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700 009

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षण	08 डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र :	हिंदी आत्मकथा साहित्य : उपलब्धियाँ और अभाव
	16 विमल वर्मा	कथा में आंतरिक संबंध वाच्यता
	अनुशीलन	
	21 डॉ. वर्षा गायकवाड़ :	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पत्र
	25 डॉ. हरेराम पाठक :	तमस : उपनिवेशवादी सोच की त्रासद परिणति
	30 रजनी रजक :	हिंदी रंगमंच और बंगाल
	विमर्श	
	34 प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी :	राहुल सांकृत्यायन दर्शन, इतिहास
	49 डॉ. शशि मुदीराज :	और आत्मकथा की समस्याएँ
	अन्तःपाठ	हिंदी गद्य की अंतर्विधायी प्रकृति
सृजन	51 रमेश कुंतल मेघ :	एक एंथ्रोपोलोजिकीय कहानी का चक्रचिह्न :
	53 अरविंद कुमार :	रांगेय राघव की 'गदल'
	गवेषणा	नकबेसर और अरमानों की खिड़की
	58 ज्योत्सना पांडेय :	रिपोर्ताज : स्वरूप और परंपरा
संचार	कविता	
	64 राकेश भारतीय :	विचार यात्रा, डर, महामहिम, जाते-जाते
	65 शिवानंद सिंह 'सहयोगी' :	दरोगा जी रपट लिखिये, धूप का चूल्हा,
	67 शहनाज आजमी :	पुरखों की जमीन, उसे क्या शहर कहते हैं
	69 केशव शरण :	उस बरसात में, दृश्य से बाहर,
		पुराना डाकखाना, ट्रैफिक सिगनल
		अंतरिक्ष यान और ताजमहल, चरम परिणति,
		तयशुदा समय पर, मखमल का कुरता

शोध	70 आरती :	थोड़ा सुस्ता लो इस कालीन पर, तुम्हारी वाली चाय, ऐसे बनती है कविता, थपकियाँ देकर सुला गई, आवाज़ चुगली करती है
	72 यादराम शर्मा :	ग़ज़ल
समीक्षा	सरगम के सुर साधे	
	73 ध्रुवदेव मिश्र 'पाषाण' :	'सरगम के सुर साधे'
	कहानी	
	75 डॉ. रश्मिशील :	डर
	81 सुशांत सुप्रिय :	दाग
	85 देवेन्द्र कुमार मिश्रा :	सब तुम्हारा ही तो है
भाषण	भाषान्तर	
	89 आर. शांता सुंदरी :	ज़रा सी जगह चाहिए (तेलुगु कहानी) मूल कथाकार: उदय मित्र
सृजन	स्मृतिलेखा	
	94 सिद्धेश :	सन् साठ से सत्तर के बीच का साहित्यिक दस्तक
	यात्रावृत्त	
	97 डॉ. आभा गुप्ता ठाकुर :	अमरीका के पूर्वी तट से...
संचार	साक्षात्कार	
	101 लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता :	ग़ज़ल मेरे व्यक्तित्व में है: कुँवर बेचैन
	गतिविधियाँ	
	114 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	116 अभिमत	
र	117 मुक्तांचल प्राप्ति स्थान	

संस्तुति

फिलहाल, हमारे देश और परिवेश में भाषा का सवाल बुलंदी पर है। खासकर हिंदी को लेकर बेशुमार खींचतान चल रही है। हिंदी का विश्वस्तरीय सम्मेलन उसे हिदायतों से लैस करना चाहता है। वह कुछ इस प्रकार प्रतीत होती है— हिंदी बाजार की भाषा होगी, वह इस्तेमाल और उपयोग की भाषा होगी, वह 'डिजिटल' पर संचरण कर अनेक रूपा हो जायेगी। वह घर-घर पहुँचकर सबके काम की हो जायेगी, सारी बातें अस्पष्ट सी हैं, जो कुछ खुलकर सामने आ रहा है वह यह कि भाषा सिर्फ अभिव्यंजना है लेकिन क्या कोई भी भाषा अपने साहित्य के बगैर गरिमा पा सकती है? हिंदी भाषा के साहित्य में अगर तुलसी नहीं होते, प्रेमचंद नहीं होते और उन्हीं साहित्य चिंतकों और सर्जकों की अब तक की भरी पूरी परम्परा नहीं होती तो क्या हिंदी आज यहाँ खड़ी मिलती जहाँ वह अपने को बचाये रखने की कोशिश में परेशान है?

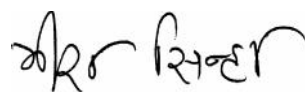
भाषा माध्यम है; हवा पानी की तरह घुल मिल जाने वाला एक ऐसा माध्यम जो सब कुछ को अपने में समोकर चलती है। कुछ भी डालिए न उसमें वह चाहे विचार हो या अविचार, दर्द हो या खुशी, संवेदना हो या कटुता, भाषा की हवा-पानी में सब कुछ संचारित हो जाता है खुशबू और बदबू की तरह, कीचड़, मिट्टी और शैवाल की तरह, भाषा संचारित करती है, एक से अनेक तक पहुँचाती है। कभी-कभी एक जैसी भाषा अपने ही भाषा-भाषी लोगों से जुड़कर भाषा समुदाय की संकीर्णता फैलाती है और विभिन्न भाषा-भाषियों से जोड़ने की जगह तोड़ने या अलगाने का काम करने लगती है। इसलिए जरूरी होता है साहित्य और उसकी शिक्षा। किसी भी भाषा का साहित्य अन्तर्भाषा की सीमा को तोड़कर वैचारिक एवं भावात्मक एकता के आधार पर हमें एक साथ लाकर खड़ा कर सकता है। भाषा भाषा से जितनी तत्परता से नहीं जुड़ती उससे बहुत त्वरित ढंग से विचार-विचार से जुड़ते हैं— एकबद्ध होते हैं। विचारों का आगार साहित्य में सुरक्षित रहता है। भारतीय भाषा एवं विश्व स्तर की भाषाएँ अपने विचार की वजह से एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

आज हमारे 'स्मार्ट शहर' के पर्यावरण से पशु-पक्षियों की कई प्रजातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं। मनुष्य मात्र में मनुष्यता जिस प्राकृतिक परिवेश की देन थी उसका भी तिरोहण हो गया है। सम्पूर्ण जीव-जगत के साथ मानव मात्र का निःस्वार्थ हेलमेल मनुष्यता के उच्चतम शिखरों को छूता रहा है। पौराणिक कथा-कहानियों के संसार में जीव-जंतुओं में मानवीय गुणों की परिकल्पना की गई है। देवताओं में मनुष्य के सद्गुणों का आरोपण किया गया है अर्थात् इसमें कोई विवाद नहीं कि मनुष्यता इस वस्तु जगत की सर्वाधिक सम्मानीय वस्तु है, जो आज खत्म होती जा रही है क्योंकि पर्यावरण खत्म हो रहा है, गाँव खत्म हो रहे हैं। मेल-मिलाप की दुनियाँ बदल रही है। बस्तियाँ बर्बाद हो रही हैं, आबाद हो रहे हैं कंक्रीट के जंगल मानवीय संवेदनाओं से हीन धरती पर चढ़े, आसमान की ओर

तने खुशनुमा रानाइयों को उजाड़कर निर्ममता से ताकते निस्तब्ध और निर्वाक्। वाई-फ़ाई के संजाल से घिरे 'स्मार्ट सिटी' को गूगल पर सर्च किया। हिंदी भाषा में 'स्मार्ट सिटी' का अर्थ 'चालाक शहर' है। चालाक शहर में हर कोई अपने हाथ में व्हाट्स-अप लिये चलता है। एक के सामने दूसरा अकेला हो जाता है। फेसबुक पर कुछ न कुछ व्हाट्स-अप करते हुए। अपने अगल-बगल की दुनिया से बेखबर अपने को अलगा रहा है मनुष्य। अपनी संवेदनाओं से जुड़ना या अन्यो की संवेदनाओं से संवेदित होना उन्हें सबसे बड़ी मूर्खता लगती है। आज का परिवेश और पर्यावरण अपने प्रकृत गुणों से शून्य होकर कृत्रिमता की शिकार है।

तो 'चालाक शहर' में भाषा कोने-कोने घूम रही है और साहित्य अँधे मुँह गिरा बेहोश पड़ा है। साहित्य को विचारों से विलग किया जा रहा है। हिंदी साहित्य की स्थिति और भी दयनीय है। उसके जो धरोहर हैं उन्हें कोई पढ़ता ही नहीं। नया करने के लिए उसके ऊपर आज के चलन का दबाव है। विद्यार्थी हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम में कभी पत्रकारिता का, कभी अनुवाद की तो कभी राजभाषा की दक्षता को हासिल करने में व्यस्त रहते हैं। रोजी-रोटी की दौड़ भाग में कहाँ गई भाषा और किधर रह गया साहित्य कुछ पता ही नहीं चलता। ऊपर से विभिन्न विमर्शों की तादाद उन्हें दम नहीं लेने देता। क्या करें क्या न करें; किस पर शोध करें, कैसे डिग्री पा लें, कैसे वह जरिया हथिया लें जो जीना आसान कर दे। 'चालाक शहर' में रहकर भी कोई चालाकी काम करती नजर नहीं आती है। हमारे देश में अभी सबसे निरीह है- हिंदी भाषा क्योंकि इसकी खींचतान सबसे अधिक चल रही है। बाजार में सबसे सस्ते में बिक रही है हिंदी। और 'अंधेरा-नगरी' का गोवर्धन दास चमकते हिंदी सम्मेलनों के बाजार में निकलता है और चमत्कृत कर जाता है- 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' और भी किस्म-किस्म के आकर्षण जो लुभाते हैं, बुलाते हैं परंतु 'सत्य' की परछाही धुंधलाती ही चली जाती है। भाषा से साहित्य को अलग करो, क्योंकि साहित्य में 'विचार' हैं, ऐसे विचार जो निरपेक्ष नहीं हो सकते जो पक्षधर होते हैं- समता और न्याय के लिए जो खड़े दिखते हैं, उत्पीड़न एवं अन्याय के खिलाफ। भाषा के विकास का ढिंढोरा पीटते हुए अभिव्यक्ति की आजादी का गला घोटना 'चालाक शहर' का पहला काम है, क्योंकि 'ना कह तू मेरी ना कहूँ मैं तेरी' का जुमला आज आम बात है।

मनुष्यता पर उतर आये संकट ने आज हमारे विचारों को घेर रखा है। साहित्य के नाम पर अमानवीय, अवैज्ञानिक एवं नकारात्मक विषयों को महत्त्व दिया जा रहा है, उन्हें उपभोग के स्तर पर संचारित किया जा रहा है। हमारे संवेगों को विनोदन की सामग्री की तरह मनभावन भाषा में सजाकर परोसा जा रहा है। ऐसा सब कुछ जो उच्छिष्ट है, नकारात्मक है, भ्रम और अमानवीय है उसके लिए शब्दों को जुगाड़ा जा रहा है। हिंदी भाषा की उदारता इन सारी कारस्तानियों को पनाह दे रही है। भाषा के पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले तत्वों से सावधान होने की जरूरत है।



संपादक

हिंदी आत्मकथा साहित्य: उपलब्धियाँ एवं अभाव

डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र

आखिर आत्मकथा क्या है? संक्षेप में परिभाषित करना चाहें तो कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति की स्वलिखित जीवन-कथा। अंग्रेजी में एक बहुत प्रचलित उक्ति है- 'एवरी आर्टिस्ट राइट्स हिज ओन आटोबायोग्राफी।' इससे यही ध्वनित होता है कि हर साहित्य में आत्मकथात्मक तत्व होते हैं। आत्मकथा एक विशेष प्रकार की जीवनी है। जीवनी किसी व्यक्ति की अन्य व्यक्ति द्वारा लिखी गई जीवन कथा होती है। आत्मकथा उस व्यक्ति द्वारा लिखित स्वयं की जीवनी होती है। घनिष्ठतम संबंध होने के बावजूद दोनों विधाएँ जैविक रूप से भिन्न हैं। आत्मकथा जीवनी का एक पहलू मात्र नहीं है। जैसा कि आम तौर पर माना जाता है। इसके विपरीत वह एक स्वतंत्र और कठिन कला रूप है। समीक्षकों एवं पाठकों में इस विधा के बारे में काफी गलतफहमी एवं पूर्वाग्रह रहा है।

आत्मकथा मूलतः आत्मपरक विधा है। व्यक्ति के अंदर अदृश्य संसार पाठकों के समक्ष उद्घाटित होता है और इस कार्य को सम्पन्न करता है स्वयं वह व्यक्ति। अतएव इसमें अनुमान एवं कल्पना का कोई स्थान नहीं। जीवनी मूलतः वस्तुपरक होती है। विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध जानकारी के आधार पर इसका निर्माण होता है। जीवनीकार अपने नायक के कार्यों के आधार पर उसके चरित्र के बारे में निष्कर्ष निकालता या अनुमान लगाता है। लेकिन बाह्य कार्यों के आधार पर आंतरिक संघर्ष का अनुमान लगा पाना कठिन है। इसलिए कई जीवनीकार अपने नायकों के चरित्रगत गुणों एवं दोषों के बारे में सही निर्णय नहीं कर पाते हैं।

आत्मकथा व्यक्ति का अत्यधिक विश्वसनीय आत्म-दर्शन होती है, जबकि जीवनी किसी व्यक्ति के बारे में अन्य व्यक्ति के मानस में निर्मित धारणा होती है। इस प्रकार जीवनी का रास्ता खतरों से भरा होता है। जिन सत्यों के आधार पर वह किसी व्यक्ति की जीवन-कथा को गढ़ना चाहता है, हो सकता है कि वे सत्य न हों। जीवनीकार द्वारा रचित जीवनी सही हो, यह जरूरी नहीं। डॉ. जॉनसन के इस कथन से सभी सहमत होंगे- 'हर आदमी अपने जीवन के बारे में सर्वोत्तम ढंग से लिख सकता है।' क्योंकि हम स्वयं को अच्छी तरह से जानते हैं। वास्तविक जीवन आंतरिक जीवन है, जिसका ठीक ठीक उद्घाटन वह व्यक्ति ही कर सकता है, कोई अन्य नहीं।

आन्द्रे मॉरिस ने आत्मकथा के उत्कृष्ट गुणों की चर्चा करते हुए (आस्पेक्ट्स ऑफ बायोग्राफी, पृ. 142-143) उसकी न्यूनताओं एवं दोषों की ओर संकेत किया है। सर्वप्रथम तो भूलने की आदत के कारण हम बचपन को सम्पूर्णतः याद नहीं रख पाते हैं। दूसरे लेखक सौन्दर्यशास्त्रीय आधार लेकर जानबूझ कर भूलने का नाटक कर सकता है। वह अपनी जीवन-कथा को कलात्मक बनाने के मोह से ग्रस्त हो जाता है अतएव विवरण से प्रामाणिकता लुप्त हो जाती है। तृतीय- अच्छी न लगने वाली और प्रतिकूल बातों पर मस्तिष्क अपना सेंसरशिप लागू करता है, जो पूर्णतः स्वाभाविक है। हम चीजों को तभी याद रखते हैं, जब हम उन्हें याद रखना चाहते हैं, जिससे हमें चोट पहुँचती है, उसे हम शून्य में विलीन कर देना चाहते हैं। हम उसमें परिवर्तन करते हैं, मिर्च-मसाला डालकर उसे चटपटा, आकर्षक और उत्तेजक बनाते हैं। सेंसरशिप के पीछे शर्म की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अपने यौन-जीवन की सच्चाई प्रकट करने का साहस बहुत कम लोगों में होती है। इन आपत्तियों का उत्तर हमें हर्बर्ट स्पेन्सर में मिल जाता है। उसने आत्मकथा में सभी बातों का समावेश किए जाने को उचित नहीं माना है। आत्मकथा लेखक प्रमुख बातों को ही उठाता है और ऐसा वह अन्य व्यक्तियों के जीवन से अपने जीवन को अलग व विशिष्ट बताने के लिए करता है। यदि यह दोष है तो क्षम्य है।

आत्मकथा सर्वाधिक उपयोगी एवं लाभकारी विधा है क्योंकि एक तो वह लेखक को व्यक्तित्व की मुक्ति हेतु असीमित आजादी देती है तो दूसरे वह आत्मकथाकार के समकालीन जीवन को भी अभिव्यक्ति होने का अवसर प्रदान करती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि कई आत्मकथाएँ हमें किसी विशेष कालखंड के इतिहास को इतिहास ग्रंथों की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से जानने में मदद करती हैं। आत्मकथा की कला जीवन से संबंधित व्यौरों को क्रमबद्धता प्रदान करने में निहित होती है ताकि एक सुसंगत एवं विश्वसनीय जीवन कथा निर्मित हो सके तथा आंतरिक व्यक्तित्व उद्घाटित हो सके।

आत्मकथा के रचना तत्त्व : आत्मकथा के तीन महत्वपूर्ण रचना तत्त्व हैं- आत्म तत्त्व, कथा-तत्त्व एवं

परिवेश। एच.जी. वेल्स ने कहा है कि यदि आप लेखक की अहं भावना से बचना चाहते हैं तो आप आत्मकथा मत पढ़िए। इसका अस्पष्ट आशय यह है कि आत्मकथा में लेखक का अहंकार दूषित प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। डॉ. शशिभूषण सिंहल की यह टिप्पणी महत्वपूर्ण है कि 'लेखक अपने जीवन का जितनी तटस्थता से वर्णन करके अनुभवों के विवेचन में जितनी गहराई लाता है, आत्मकथा उतनी ही प्रामाणिक और प्रभावी बन पड़ती है।' आत्मकथा में लेखक अपने स्वभाव, राजनीतिक एवं धार्मिक विश्वासों, आर्थिक समस्याओं सभी बातों की खुलकर चर्चा करता है। पाठक उसके सच्चे मित्र की तरह उसके जीवन-रहस्यों में प्रवेश कर जाता है। उपन्यास का कथानक क्रमशः विकसित होता है, उसी प्रकार व्यक्ति का जीवन जन्म के बाद क्रमशः गतिमान होता जाता है। उसके मार्ग में बाधाएँ आती हैं। साहस और बुद्धि के प्रयोग से वह उन पर विजय प्राप्त कर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। आत्मकथा में इन सारी बातों का विवरण ही कथा होती है। परिवेश के चार प्रकार दिखाई देते हैं- पारिवारिक, वर्ग, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक। परिवेश के अंतर्गत समकालीनता एवं राजनीतिक परिवेश का भी समावेश होता है।

अतीत का रूपांतरण : आत्मकथा में स्मृति के माध्यम से जीवन का पुनर्निर्माण किया जाता है। पुनर्निर्माण का अर्थ है स्मृति जीवन के अतीत का रूपांतरण करती है। यह जरूरी नहीं कि रूपांतरित अतीत घटित अतीत का प्रामाणिक दस्तावेज हो। इस संबंध में गार्सिया मार्खेज का कथन महत्वपूर्ण है-

'आत्मकथा में जीवन वह नहीं होता जिसे लेखक जी चुका होता है, बल्कि वह होता है, जिसे वह याद करता है और याद करने की प्रक्रिया भी कहने या लिखने की आकांक्षा के अनुरूप होती है।'

हिंदी की आत्मकथाएँ : आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने गद्य की कई विधाओं का सूत्रपात किया जिनमें नाटक, निबंध, यात्रा-विवरण आदि प्रमुख हैं। अपने संबंध में लिखी उनकी एक लघु रचना मिलती है। उसे आंशिक रूप से आत्मकथ्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने आत्मकथा

के महत्त्व को समझते हुए सन् 1932 में 'हंस' का आत्मकथा विशेषांक प्रकाशित किया था जिसे लेकर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने व्यर्थ का विवाद पैदा किया। आत्मकथा लेखन की प्रेरणा देने वाला यह अंक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा-साहित्य में पहला मील का पत्थर है। इसके पूर्व निम्नलिखित आत्मकथाएँ प्रकाशित हो चुकी थी- भाई परमानंद- आप बीती (1921), राम विलास शुक्ल- मैं क्रांतिकारी कैसे बना (1933), भवानी दास संन्यासी- प्रवासी की कहानी (1939), डॉ. श्याम सुंदर दास- 'मेरी आत्म कहानी'। इस आत्मकथा में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बारे में कुछ प्रतिकूल टिप्पणियाँ हैं। प्रतिभा के हिसाब से शुक्ल जी दास जी से बहुत आगे थे इसलिए इसमें ईर्ष्या और प्रतिशोध की भावना की गंध आती है। राहुल जी की आत्मकथा में यायावरी और ज्ञान-संचय की प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी हुई है। अदम्य जिजीविषा और जीवनी शक्ति से ओत प्रोत राहुल जी ने तिब्बत, लंका और रूस की यात्राएँ की थीं। वे जहाँ भी जाते थे वहाँ के जीवन में घुल मिल जाते थे। उनके अनुभवों को पढ़ना ज्ञानवर्द्धक ही नहीं रोमांचकारी भी है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर' 1960 में प्रकाशित हुई। यह एक बेबाक, निर्भीक तथा प्रखर आत्मकथा है। इसकी भाषा शैली अनोखी है। भावनात्मक और उत्तेजक होने के साथ-साथ इसमें आत्मविश्लेषण तथा वैचारिक तत्त्व भी विद्यमान हैं। अपनी काव्यकृति 'मधुशाला' के कारण 'हालावाद' के प्रचारक के रूप में घोषित उत्तर छायावादी कवि हरिवंशराय बच्चन ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में अपनी आत्मकथा चार खंडों में प्रकाशित करवाई- 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (1969) 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970), 'बसेरे से दूर' (1978), 'दस द्वार से सोपान तक' (1985)। बच्चन जी की आत्मकथा एक रचनाकार की कहानी है जो संघर्ष करते हुए शिखर पर पहुँचता है। इसमें परिवेश और समकालीनता का चित्रण है। सुमित्रानंदन पंत के साथ ही साथ कवि शमशेर बहादुर सिंह का भी जिक्र है। लेखक यशपाल की पत्नी प्रकाशवती जी ने अपनी आत्मकथा 'लाहौर से लखनऊ' में दिया। डॉ. धर्मवीर भारती ने बच्चन जी की आत्मकथा

पर सम्मति देते हुए लिखा है- 'हिंदी में अपने बारे में सब कुछ इतनी बेबाकी, साहस और सद्भावना से कह देना यह पहली बार हुआ है।' सुप्रसिद्ध फिल्म अभिनेता बलराज साहनी ने विमल राय निर्देशित 'दो बीघा जमीन' फिल्म से ख्याति की सीढ़ियाँ चढ़ी थीं। उनकी आत्मकथा, (मेरी फिल्मी आत्मकथा, सन् 1947) में पारिवारिक पृष्ठभूमि और विभाजन की त्रासदी पर प्रकाश डालते हुए अपनी फिल्मी संघर्ष गाथा की व्यथा-कथा को अंकित किया है। ऐतिहासिक उपन्यासकार वृंदालाल वर्मा, समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा, आचार्य शिवपूजन सहाय, फणीश्वर नाथ रेणु, अमृतलाल नागर, कवि कथाकार रामदरश मिश्र आदि की आत्मकथाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। कथाकार यशपाल के 'सिंहावलोकन' शीर्षक से प्रकाशित संस्मरण उनकी आत्मकथा ही हैं। कथाकार भगवतीचरण वर्मा की आत्मकथा 'कहि न जाय का कहिए' तीन खंडों में मरणोपरान्त प्रकाशित हुई है। 'तमस' उपन्यास से ख्याति प्राप्त करने वाले प्रगतिशील कथाकार भीष्म साहनी की आत्मकथा 'आज के अतीत' लेखक के परदुःखकातर जीवन्त और मानवीय व्यक्तित्व को उजागर करती है। अविभाजित भारत की कहानी क्रमशः विभाजन, विस्थापन, सांप्रदायिक दंगे, पुनर्स्थापन, मोह भंग, दुःस्वप्न आदि से गुजरकर परिवेश और समकालीनता से गहरे जुड़ाव की शर्तों को पूरा करती है। भीष्म जी ने स्वयं को एक सामान्य औसत व्यक्ति के रूप में पेश किया है। आत्मकथा को लेखक की विनोदप्रियता, विनम्र आत्मविश्लेषण, तटस्थता तथा जीवन के प्रति अटूट आस्था आदि गुण महत्त्वपूर्ण बना देते हैं।

साठोत्तरी पीढ़ी के कथाकार रवीन्द्र कालिया की आत्मकथा 'गालिब छुटी शराब' जहाँ एक ओर लेखक को शराब में डूबने और अंततः उससे पूर्णतः मुक्त होकर स्वस्थ जीवन में पुनः संचरण करने की कथा है तो दूसरी ओर समकालीन लेखकों के वैयक्तिक, पारिवारिक एवं साहित्यिक उतार-चढ़ाव का भी जायजा लेती है। दिल्ली, मुंबई, इलाहाबाद का जीवन भी विविध रंगी छटा के साथ अपनी मनमोहक झलक दिखाता है। अमित संभावनाओं से मुक्त कथाकार, नाटककार स्वदेश दीपक अचानक लापता हो गए। उनकी आत्मकथा 'मैंने मांडू नहीं देखा' विक्षिप्त

सी मानसिकता को दर्शाती है। जीवन के बहुमूल्य सात वर्ष उन्होंने 'सिजोप्रेनिया' से लड़ते हुए गुजारे। वे स्वयं से अलग होकर रचयिता के रूप में अपने भोक्ता का चित्रण करते हैं। कस्बे के आदमी की व्यथा को नई कहानी में वाणी देने वाले कमलेश्वर ने 'कितने पाकिस्तान' के रूप में एक महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति हिंदी साहित्य को दी। उनकी आत्मकथा तीन खंडों में है- 'जो मैंने जिया', 'यादों के चिराग', 'जलती हुई नदी'। राजेन्द्र यादव ने 'हंस' मासिक पत्रिका के द्वारा लेखकों की एक नई पीढ़ी तैयार की। उनकी आत्मकथा 'मुड़ मुड़ के देखता हूँ' उनके अहंवादी व्यक्तित्व को महिमान्वित करने का प्रयास है। कथाकार एवं शरत् के जीवनीकार ('आवारा मसीहा') विष्णु प्रभाकर की आत्मकथा के भी तीन खंड प्रकाशित हुए हैं- 'पंखहीन', 'मुक्त गगन में', 'पंछी उड़ गया'। संयुक्त परिवार का जीवन जीने वाले विष्णु जी अपने सदाचारी सात्विक जीवन से पाठकों पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। अंतिम खंड में पत्नी के निधन की असीम व्यथा शब्दों के बाँध को तोड़कर सब कुछ को ध्वस्त करती दिखाई देती है।

हिंदी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ: आज दलित विमर्श और नारी विमर्श साहित्य के केन्द्र बिंदु बन गए हैं। नारी-विमर्श पुरुषों के समकक्ष स्त्रियों की राजनीतिक, समाजिक और शैक्षणिक समानता का वह आंदोलन है, जिसे पहले 'नारीवाद' (अंग्रेजी में 'फेमिनिज्म') कहा जाता था। यह पितृसत्तात्मक और लिंग-भेद पर आधारित मूल्यों और मान्यताओं के प्रति विद्रोह है। इसकी शुरुआत मुख्यतः ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में हुई। इसकी जड़ें अठारहवीं सदी के मानवतावाद और औद्योगिक क्रांति में थी। नारीवाद बलात्कार, पत्नी प्रतारणा, परिवार नियोजन व समान वेतन की माँग तक ही सीमित न रहकर अपना उद्देश्य बहुत व्यापक मानता है। वह सभी प्रकार की असमानता दबाव व दमन का प्रतिरोध कर राष्ट्रीय व अन्तराष्ट्रीय स्तर पर समतामूलक न्यायिक-सामाजिक आर्थिक व्यवस्था से युक्त समाज की स्थापना हेतु कृत संकल्प है।

डॉ. सुमन राजे ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' में लिखा है- 'आत्मकथा और समीक्षा का

क्षेत्र भी लगभग सूना ही पड़ा है। महिलाओं की आत्मकथाओं का हिंदी में अभाव अब तो एक मुद्दा बन गया है। (पृ. 295)।' उनकी यह शिकायत अब दूर हो गई है, क्योंकि कई हिंदी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ अब तक प्रकाशित हो गयी हैं। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था द्वारा नारी पर ढाये जाने वाले अत्याचार, विवाह संस्था की असंगतियों पतियों की खलनायकी भूमिका, आत्मविकास में बाधक तत्त्वों से संघर्ष करती आर्थिक आत्मनिर्भरता की प्राप्ति हेतु प्रयास करती नारी कुछ ऐसे मुद्दे हैं जो सीधे नारी-विमर्श से जुड़ते हैं। ऐसी आत्मकथाएँ लेखिकाओं के व्यक्तित्व को ही अभिव्यक्ति नहीं देतीं, अपने समकालीन जीवन की हलचलों को भी शब्दबद्ध करती हैं। इन आत्मकथाओं की सबसे बड़ी सच्चाई यह है कि लेखिका बन जाने पर भी वे नारी शोषण की चक्की के पाटों से मुक्त नहीं हो पाती हैं। पति की स्वार्थपरता एवं विलासी वृत्ति उनके मानसिक जगत को अस्तव्यस्त कर देती हैं। कहीं पति का पूँजीपति या सफल व्यवसायी होना उसके लेखकीय विकास में बाधक बन जाता है। कुछ प्रमुख लेखिकाओं की आत्मकथाओं का संक्षिप्त विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है:

डॉ. प्रतिभा अग्रवाल : नाटक एवं रंगमंच के लिए समर्पित जीवन जीने वाली डॉ. प्रतिभा अग्रवाल की आत्मकथा दो खंडों में है। प्रथम खंड 'दस्तक जिन्दगी की' (सन् 1990) में बनारस से ब्याह होकर पति मदन बाबू के साथ कोलकाता आने तक का इतिवृत्त है। दूसरे खंड 'भीड़ जिंदगी का' (सन् 1996) में लेखिका ने कोलकाता में अपने पारिवारिक जीवन के सुख दुख के साथ हिंदी और बांग्ला रंगमंच से जुड़े महत्वपूर्ण व्यक्तियों के योगदान का तटस्थ मूल्यांकन किया है। इसी खंड में 'नाट्य शोध संस्थान' की स्थापना की पृष्ठभूमि विस्तृत रूप में अंकित है। प्रतिभा जी का जन्म 10 अगस्त 1930 को बनारस में भारतेन्दु भवन में हुआ था। इनके दादा बाबू राधाकृष्णदास भारतेन्दु जी के सगे फुफेरे भाई थे। नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में उनका महत्वपूर्ण योगदान था। प्रतिभा जी के पिता बाबू बाल कृष्णदास की नाटक संगीत और गायन में गहरी रुचि थी। वे दस वर्ष की थीं तभी माँ यक्ष्मा से गुजर गईं। माँ की मृत्यु के बाद प्रतिभा जी को दादी से माँ

का स्नेह मिला। प्रतिभा जी के पति मदन बाबू सुधारवादी थे, स्त्री पुरुष की समानता के हिमायती थे और उसे उन्होंने व्यवहार में उतारा। बिना दहेज के, बिना पर्दे के विवाह किया। 'विवाह के पन्द्रह दिनों के बाद ही उसे स्कूल में भर्ती कराया, अगले साल पढ़ने के लिए शांति निकेतन भेज दिया, बाद में अभिनय करने के लिए हर तरह अनुकूल वातावरण बनाया, उसे लोगों से मिलने-जुलने की पूरी स्वतंत्रता दी।' प्रतिभा जी के पिताजी को मुहावरों का संग्रह करने की आदत थी। प्रतिभा जी ने आगे चलकर पिताजी के कार्य को आगे बढ़ाया और मुहावरों पर उच्चस्तरीय कार्य कर डी. फिल, डि.लिट्. की उपाधियाँ प्राप्त की और मुहावरा कोश का संपादन किया। डॉ. प्रतिभा अग्रवाल की आत्मकथा उनके बचपन, घर परिवार से संबंधित सुख-दुखद अनुभवों का लेखा जोखा ही नहीं प्रस्तुत करती अपितु एक नारी के आत्मविश्वासपूर्ण अभ्युदय एवं उत्थान की गाथा भी कहती है। बंगला भाषा सीखकर उस पर अधिकार प्राप्त कर बँगला नाटकों के अनुवाद के द्वारा उन्होंने हिंदी नाट्य-साहित्य को सम्पन्न बनाया है। इन अनुवादों के आधार पर ही अन्य भाषाओं में अनुवाद किए गए। कोलकाता का 'नाट्य शोध संस्थान' एक अभूतपूर्व संस्था है, जिसका उद्भव प्रतिभा जी के रक्तप्रवाह में भिने नाट्य संस्कारों से हुआ। 'अनामिका' के माध्यम से भी उनका योगदान महत्वपूर्ण है। बनारस और कोलकाता के हिंदी रंगमंच का इतिहास इस आत्मकथा से गुजरे बिना नहीं लिखा जा सकता।

कुसुम अंसल : कुसुम-अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' सन् 1996 में प्रकाशित हुई। 'आमुख' में लेखिका ने लिखा है- 'मेरा यह लेखन मेरी वह यात्रा है जिसमें प्रवाहित होकर मैं लेखिका बनी थी, मेरे उन अनुभवों का कच्चा-चिट्ठा जिनको अपने प्रति सचेत होकर मैंने रचनात्मक क्षणों में जिया था। (पृ. 13)। एक बालिका के रूप में उन्हें कुचला हुआ बचपन मिला, सपनों का पंख फैलाने का अवसर रूढ़िवादी परिवार ने नहीं दिया। विवाह हुआ एक मध्यवर्गीय परिवार में जहाँ व्यवसाय के द्वारा आर्थिक समृद्धि पाने की धुन महत्वपूर्ण थी। पत्नी की वैयक्तिकता एवं उसकी रोमांटिक कल्पनाओं की पूर्ति के

लिए कोई अवकाश नहीं था। आगे चलकर थोड़ा विद्रोह उन्होंने किया और 'इप्ता' के माध्यम से कला और साहित्य की दुनिया से जुड़ीं। उनकी अमीरी उनके लेखक के स्थापित होने में बाधक सिद्ध हुई। संपादक, लेखक इस पूर्वाग्रह से बंधे हुए थे कि एक समृद्ध महिला अच्छा और प्रामाणिक लेखन कर ही नहीं सकती। फिल्मी दुनिया ने उनकी अमीरी को दुहा, उनकी प्रतिभा को दरकिनार रखा। उनके उपन्यास पर फिल्म बनती है और उन्हें बतौर लेखक भी श्रेय नहीं दिया जाता। उनका नाटक खेला जा रहा है और निमंत्रियों में उनकी बगल में बैठी एक लेखिका उनसे एक शब्द नहीं बोलती। इन्हीं अनुभवों से गुजरने के बाद उन्होंने निष्कर्ष निकाला है- 'इस संसार की जनसंख्या में कम से कम पचास प्रतिशत लोग या शायद अस्सी प्रतिशत लोग 'सैडिस्ट' हैं, घात-प्रतिघात को तैयार, प्रतिस्पर्धा, जलन, कुंठाएँ या मॉल एडजस्टमेंट जीते हुए (पृ. 206)।' श्रीमती कुसुम अंसल की आत्मकथा में आसक्ति-विरक्ति का धूपछाँही खेल दिखाई पड़ता है। अलीगढ़ के अमीर घर में इकलौती बेटि को 'अनाथ बालिका' की तरह पाला जाता है और उसे निःसंतान दम्पति (आगरा वाले) की गोद लेने के रूप में 'डोनेट' कर दिया जाता है। संतान के इस रूप में बालिका का स्थान नीचे है, इस धारणा वाले समाज की माया ही अपना मकड़जाल फैलाए हुए दिखाई पड़ती है।

चन्द्रकिरण सौन रेक्सा : पति के ईर्ष्यालु, क्रोधी एवं विकृत मनोवृत्ति वाले स्वभाव से ऊबकर कथा लेखिका चन्द्रकिरण सौन रेक्सा ने लेखन कार्य को तिलांजलि दे दी। अमरीका निवासी बड़े बेटे कार्तिकेय के आग्रह पर उन्होंने अपनी आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' का लेखन प्रारंभ किया और वह वर्ष 2008 में प्रकाशित हुई। 9 मई 2009 को 89 वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया। अपनी आत्मकथा को उन्होंने आप बीती कहा है। यह आप बीती भी देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की तरह कदम-कदम पर उत्सुकता जगाने वाली रोचक शैली में लिखी गई है, जिससे 415 पृष्ठों की पुस्तक बिना किसी ऊब के पाठक पढ़ जाता है। इसमें आप बीती ही नहीं जगबीती और समाज बीती के महत्वपूर्ण प्रसंग जुड़े हुए हैं। ऐसी कोई लेखिका नहीं मिलेगी जो घर-गृहस्थी के छोटे से छोटे

कामों को करते हुए अपना लेखन भी जारी रखे। बड़ी प्रामाणिकता के साथ वे अपने कठिन जीवन-संघर्ष का चित्र खड़ा करती हैं- 'अब मेरी दिनचर्या थी- अंधेरे में पाँच बजे उठकर, दो अंगीठियाँ जलाना, सभी के लिए बेड टी देना। फिर भोजन बनाने में जुट जाती। बीच-बीच में कुतल को दूध पिला आती।' चूल्हे चौके में काम करते हुए भी वे दो चार पृष्ठ लिख लेती। 'मधुशाला' के रचयिता हरिवंश राय बच्चन चन्द्रकिरण के पति बनते बनते रह गए। चन्द्रकिरण के भाई ने यह कहकर रिश्ते को नामंजूर कर दिया कि शायर शराबी होते हैं और वह दस साल बड़ा है। चन्द्रकिरण ने मन में कहा- 'भाई होने दीजिए शराबी। इतने प्रसिद्ध कवि की पत्नी बनना ही गर्व की बात होगी (पृ. 159)।' तटस्थ निर्णय एवं विश्लेषण इस आत्मकथा के मूलाधार हैं। किसी भी व्यक्ति या संस्था पर कीचड़ उछालने का काम सौनरेक्सा जी नहीं करती हैं। अपने पति के श्वेत-श्याम दोनों पक्षों को प्रस्तुत किया है।

कृष्णा अग्निहोत्री : कथा लेखिका कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा दो खंडों में प्रकाशित हुई। प्रथम खंड 'लगता नहीं है दिल मेरा' सन् 1997 में प्रकाशित हुआ। सन् 2010 में दूसरा खंड 'और...और...औरत' प्रकाशित हुआ। कुछ को यह नारी-यातना की महागाथा लगेगी तो कुछ इसे रसमय काम-कथा के रूप में देखेंगे क्योंकि इसमें अवैध संबंधों की बहुत अधिक चर्चा हुई है। यह आत्मकथा पुरुष निर्मित पितृसत्तात्मक नैतिक प्रतिमानों की धज्जियाँ उड़ाकर रख देती है। कृष्णा जी ने एक ऐसे समाज में आँखें खोलीं जहाँ पुत्र के सामने पुत्री कुछ नहीं थी। उसके जन्म पर माता-पिता प्रसन्न नहीं होते थे। किसी को यह चिंता नहीं थी कि मैं क्या चाहती हूँ। मुझे क्या अच्छा लगता है। क्या बुरा लगता है। मैं क्या सोचती हूँ।' (पृ. 28)। पति सत्यदेव अग्निहोत्री के साथ कृष्णा अग्निहोत्री का दामपत्य-जीवन सुखद नहीं था। शराब, जुआ और परस्त्रीगामिता की बुरी आदतों में डूबे पतिदेव के व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या लेखिका ने प्रस्तुत की हैं- 'अपने आप में सुपीरियरिटी कॉम्प्लेक्स इतना अधिक था कि जीवन को सुख से जी ही नहीं सके। यदि आई.पी.एस. में सिलेक्ट हुए तो वे सोचते कि आई.ए.एस. के लायक हैं। यदि पत्नी मेरी जैसी है तो

उन्हें पत्नी लम्बी, अत्यधिक बड़े बालों वाली, बड़ी आँखों वाली चाहिए।' (पृ. 92) कृष्णा जी ने अपनी आत्मकथा में उन लेखकों संपादकों के नाम दिए हैं, जिन्होंने उनकी लेखकीय महत्वाकांक्षा की आड़ में नजदीकियाँ बनाने की कोशिश की। आखिर ऐसा क्यों होता रहा? सर्वप्रथम तो कृष्णा जी की सुन्दरता जो हर रसिक व्यक्ति को सहज ही अपनी ओर खींचती थी। दूसरे उनकी हर महत्वपूर्ण साप्ताहिक, मासिक में छपने की आतुरता, जिसका लाभ लेखक संपादक उठाना चाहते थे। कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा में ऐसी नारी का व्यक्तित्व उभरता है जो हर प्रकाशवान वस्तु को सितारा समझ लेती है और पास जाते ही नग्न यथार्थ सामने आ जाता है। धोखा खाकर फिर धोखा खाती है। आपने शून्य को भरने के प्रयास में उसे और अधिक असीम कर लेती है।

मन्नु भंडारी : कथा लेखिका मन्नु की यह आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' सन् 2007 में प्रकाशित हुई। 'हंस' के संपादक और कथाकार राजेन्द्र यादव से मन्नु जी ने पिता के सख्त विरोध के बावजूद प्रेम-विवाह किया था। गृहस्थी की जिम्मेदारियों से पलायन करने वाले अहंग्रस्त पति के अमानवीय व्यवहार से दुखी मन्नु जी तीस लम्बे वर्षों के बाद ही संबंध-विच्छेद कर पाईं। इस दुखद एवं यातनापूर्ण स्थिति को उन्होंने बिना किसी छुपाव-दुराव को वर्णित किया है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है- 'पर इसमें कोई संदेह नहीं कि अगर मैं राजेन्द्र के साथ रही तो उनके प्रति अपने गहरे लगाव के कारण रही और यदि अलग हुई तो अपनी मुक्ति के लिए।' (पृ. 216)। राजेन्द्र यादव के संपर्क की उपयोगिता को उन्होंने नकारा नहीं है- 'इसलिए जब तक मेरे व्यक्तित्व का लेखक-पक्ष सजीव रहा... चाहकर भी मैं राजेन्द्र से अलग नहीं हो पाई... लेकिन जैसे-जैसे मेरा लेखक निर्जीव और निष्क्रिय होता गया, मेरे भीतर की स्त्री सजीव होती गई, अपना पूरा वजूद पाते ही उस स्त्री के लिए न साथ रहना संभव रह गया था, न उस संबंध को निभा पाना- सो वह साथ छूटा- संबंध टूटा। (पृ. 215-216)।' आखिर राजेन्द्र यादव के साथ 'घाघरा पलटन' की ओर झुकाव की जड़ में क्या है? इसकी तट में जाकर मन्नु भंडारी ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

उनकी 'महिला विजय' की प्रवृत्ति के मूल को मन्नू जी ने उनकी अपंगता में खोजा है। मन्नू जी ने अपनी कहानियों, उपन्यासों, नाटक तथा फिल्मी रूपांतरों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी दी है।

प्रभा खेतान : उपन्यास लेखिका प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' सन् 2007 में प्रकाश होते ही लोकप्रिय हो गई। प्रभा खेतान पितृसत्तात्मक व्यवस्था के लिंगभेद पर आधारित नियमों से त्रस्त होकर अपनी अनुभवहीनता में एक विवाहित व्यक्ति से शारीरिक संबंध स्थापित कर पुरुष आधिपत्य का शिकार होती है। आर्थिक आत्मनिर्भरता ही उन्हें खोया हुआ आत्मविश्वास पुनः प्राप्त करने में सहायक होता है। प्रभा जी ने अपने मारवाड़ी समाज की परम्पराप्रियता और रूढ़िवादिता पर कसकर प्रहार किया है- 'अजीब समाज है। यहाँ सिर्फ कुँआरी कन्याओं और पत्नियों की जरूरत है। बाकी कौन बर्ची? विधवाएँ और वृद्धाएँ तो तीरथ में रहती हैं या बड़े दिन की छुट्टियों में जब कलकत्ता क्रिकेट और पिकनिक से गुलजार रहता है तो ये औरतें मुरारी बापू एवं आशाराम बापू का प्रवचन सुनने जाती हैं।' (पृ. 250) अपने अनुभव के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि प्रेम कभी देह आधारित नहीं हुआ करता, देह की भूमिका गौड़ है। 'फ्रायड महाराज इसे चाहे जिस ग्रंथ का नाम दें, मगर मन एक है। जिसे चेतन-अचेतन में भी विभक्त नहीं किया जा सकता। यह मन ही समर्पण की आज्ञा देता है।' (पृ. 253)

मैत्रेयी पुष्पा : मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा भी दो खंडों में है- 'कस्तूरी कुंडल बसे' (2002), 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (2008)। प्रथम खंड लेखिका की आत्मकथा के साथ ही माँ कस्तूरी की जीवनी भी है। माँ के हाड़तोड़ संघर्ष और अद्भुत आत्मविश्वास जहाँ एक ओर उनके प्रति लेखिका में श्रद्धा, स्नेह और प्रशंसा के भावों को जगाता है, वहीं गृहस्थ जीवन के प्रति उनकी कठोर नकारात्मक दृष्टि वितृष्णा और अलगाव की भावना पैदा करती है। कस्तूरी का वैवाहिक जीवन उन्हें सुख, संतोष और परिपूर्णता नहीं दे सका तो वे नहीं चाहती कि उनकी बेटी वैवाहिक जुए में गर्दन डाले और पुरुष की गुलामी करे। कस्तूरी की अपनी बेटी को सलाह है- 'स्त्रीत्व माने स्त्री-शक्ति। तू

उस स्त्री-शक्ति को गंवाने पर तुली है, मुसीबत तो यही है।' कस्तूरी की राय में बेटी को ब्याह कर गाय की तरह हाँक देने जैसा कोई दूसरा अपराध नहीं। लेकिन उल्टी गंगा देखो कि उन्हीं की बेटी आगे की ओर नहीं पीछे की ओर चल रही है। क्या इसीलिए था उनका संघर्ष? (पृ. 61) मैत्रेयी ने महसूस किया कि पुरुषों की दुनिया में 'लड़की' और 'औरत' कहीं सुरक्षित नहीं है। सब उसको भक्ष्य बनाने के आतुर। 'कस्तूरी कुंडल बसे' में माँ बेटी के व्यक्तित्वों का द्वन्द्व मनोवैज्ञानिक आधार पर बखूबी चित्रित है।

आत्मकथा के दूसरे भाग 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में पति तथा लेखिका का रचनात्मक संघर्ष केन्द्र में है। मैत्रेयी के पति डॉ. शर्मा की नियुक्ति दिल्ली के 'एम्स' में होती है। ग्रामीण संस्कारों वाली मैत्रेयी अपने पति के साथ देश की राजधानी दिल्ली पहुँचती है। पति पत्नी को 'आधुनिक' भी बनाना चाहता है और नियंत्रण में भी रखना चाहता है! मैत्रेयी में एक उन्मुक्तता है जिस पर माँ और पति दोनों बंधन लगाने की फिराक में रहते हैं। मैत्रेयी भी हठधर्मिता से बाज नहीं आती है- 'यदि कोई पति पत्नी की कोमल भावनाओं को कुचलकर खत्म करता है तो पत्नी को पतिव्रत के नियमों का उल्लंघन हर हालत में करना होगा।' (पृ. 15)। उन्होंने 45 वर्ष की आयु में लेखन प्रारंभ किया और उसका श्रेय उनकी बेटियों को जाता है। उन्होंने अपनी माँ को प्रेरित किया कि वे भी 'आखिर क्यों' फिल्म की नायिका (अभिनेत्री स्मिता पाटिल) की तरह लेखन में आगे बढ़ें। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' का रहस्य क्या है? घर गृहस्थी के बँधे दायरे को तोड़कर अपनी रचनात्मकता को विकसित करती नारी। मैत्रेयी ने साहसपूर्वक लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन किया तभी वह अपने समय पर अपनी छाप छोड़ पाई।

सुशीला टाकभौरै : सुशीला टाकभौरै की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' एक दलित नारी की दारुण यातना की कहानी ही नहीं कहती, उस वर्ण-व्यवस्था के अमानवीय स्वरूप के रेशे रेशे से पाठकों को परिचित कराती है, जिसने करोड़ों इंसानों की जिंदगी में जहर घोल रखा है। ऊपर-ऊपर तो मानवतावाद और समता का सूरज चमकता दिखाई देता है लेकिन थोड़ा सा खुरचते ही वर्ण श्रेष्ठता का

लिजलिजा घृणास्पद दलदल झलक मारने लगता है। लेखिका ने मुस्कराहट की नकाब के तले छिपे नफरत भरे चेहरों की असलियत दिखाई है। सहते सहते जब इतिहा हो गई तो इस दबी घुटी नारी ने अपनी खुदी को बुलंद किया और फिर बाधाएँ कांपते हुए दूर भागने लगीं। 'शिकंजे का दर्द' दलित नारी की शोषण मुक्ति की संघर्ष गाथा है, महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

उपलब्धियाँ एवं अभाव : बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से लेकर आज तक जितनी आत्मकथाएँ लिखी गई हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिंदी का आत्मकथा साहित्य क्रमशः समृद्धि की ओर अग्रसर है। नारी शिक्षा और नारीवाद की सक्रियता ने लेखन के क्षेत्र में महिलाओं के पदार्पण के द्वार खोल दिए हैं। पुरुष लेखकों की आत्मकथाओं में राहुल सांकृत्यायन, हरिवंश राय बच्चन,

भीष्म साहनी, रामदरश मिश्र आदि की कृतियाँ कथ्य और शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। दलित आत्मकथाएँ भी हिंदी में आ रही हैं लेकिन उनकी संख्या अभी नगण्य है। लेखिकाओं की आत्मकथाएँ सुशिक्षित और प्रबुद्ध माने जाने वाले पतियों की पुरुष सत्तात्मक मनोवृत्ति का बखिया उधेड़ती हैं। उनसे यह भी पता चलता है कि नारी रचनात्मकता कितनी अवरोधक परिस्थितियों में अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए प्रयत्नशील है। प्रभा खेतान जैसी लेखिकाओं ने प्रयोग के रूप में औपन्यासिक शिल्प को अपनाया है। आत्मकथा की विधा सत्य के करीब जाकर ही परवान चढ़ती है। आत्मकथाकारों को स्वयं को महिमान्वित करने और दूसरों से हिसाब बराबर करने के मोह से बचना होगा। ये प्रवृत्तियाँ आत्मकथा की उत्कृष्टता के लक्ष्य में बाधक हैं।

संपर्क:

46, पठान ले-आऊट, रिंग रोड,
नागपुर-440022, मो. 09422148067

कथा में आंतरिक संबंध व्यक्तता

विमल वर्मा

रचनाकार जब किसी विषय को आकृति देता है तो गतिविधियों, समय के विकास तथा परिवर्तित होते रूपों के स्रोत के रूप में आंतरिक व्याघातों के विकास के क्रम में निषेध और स्वीकृति की विधि अपनाता है।

क्षमा शर्मा ने समकालीन बवंडर में घिरी शृंखलाबद्ध आकांक्षाओं के विस्थापन का जो रचाव किया है वह पाठकीय बोध के लिए एक उपलब्धि ही है। क्योंकि आंतरिक संवेग, विकास की प्रेरक शक्ति खुद सांस्कृतिक तत्त्वों के बीच होने वाली अन्तःक्रिया होती है।

कथा में विमर्श के क्रम में वैयक्तिक जीवन और बोध की प्रतिक्रियाओं के सभी पक्षों की ओर संकेत किया गया है। इसमें आत्मपरक पक्ष को नज़रन्दाज़ नहीं किया गया है।

पाठक को यह बोध हो जाता है कि प्रक्रियाओं का स्रोत क्या है और वह किस दिशा में अग्रसर हो रही है। कहा गया है कि भाषा की प्रक्रिया उसकी आत्मा और शब्दों को प्रक्रिया में बदलना है। यहाँ जितने भी संकेतक हैं वे परस्पर, दुराव, द्वन्द्व और इसके रिश्तों को अभिव्यक्त करते हैं। इसलिए भाषा का उन्मेष भी उसकी विच्छिन्नता में दीखता है। पाठकों को भी केवल परिवर्तन के परिणामों को ही नहीं परिवर्तन की प्रक्रिया पर नज़र रखनी चाहिए।

यहाँ भाषा 'स्व' की चेतना के अंधकारमय पक्ष को खोलती और उघाड़ती है।

पाठ का अन्त अत्यन्त रोचक इसलिए लगता है कि निर्मला के माध्यम से भाषा आख्यान में प्रतिरोध और हस्तक्षेप का बोध कराती है।

क्षमा शर्मा की 'नेमप्लेट' कहानी में आजकल की पूंजीवादी संस्कृति के एक अंश (सोशलग्रुप) के बदलते परिदृश्य में समकालीन संबंधों के बीच की गतिमानता, ठहराव, विडम्बनाएँ ध्वनित हुई हैं। यहाँ जिन विमर्शों को रचा गया है, उनमें स्वीकृति और निषेध की द्वन्द्वात्मकता के स्वरूप रूपायित किये गये हैं।

विमर्शों द्वारा संघनित 'पाठ' दैनिक जीवनानुभवों से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है। कथा की गतिकी में समाज के जिन वर्तमान कैटगरीज़, बयानों, अवधारणों का समुच्चय है, उनके रचनात्मक, सामाजिक, और ऐतिहासिक संदर्भ हैं।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ने पूंजी और संचार माध्यमों के वर्चस्व से नयी-नयी लीलायें रची हैं। इसने शिक्षा संस्थानों, विशेषकर विश्वविद्यालयों को मानों शापिंग काम्प्लेक्स में परिवर्तित कर दिया है। मार्क्स-एंगेल्स ने अठारहवीं शताब्दी में ही लिखा था कि 'पूँजीवादी वर्ग ने नग्न स्वार्थ के 'नकद-कौड़ी' के हृदय शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा संबंध बाकी नहीं रहने दिया। ...मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को उसने विनिमय मूल्य बना दिया है और पहले के अनगिनत अनपहरणीय अधिकार पक्ष द्वारा प्रदत्त स्वातन्त्र्यों की जगह अब उसने उस एक अन्तःकरण शून्य स्वातन्त्र्य की स्थापना की है।' (कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र, पृ. 38-39)

कहना न होगा कि सभी सौन्दर्य-चेतना और सौन्दर्य-मूल्य शाश्वत नहीं होते। ये इतिहास के गर्भ से विशेष सांस्कृतिक परिस्थिति के बदले हुए रूप में मूर्तिमान होते हैं। अतः आज की रचना

के आंतरिक और बाहरी परिवेश के अध्ययन के बिना पाठ की जटिल वास्तविक प्रक्रियाओं को समझना बड़ा मुश्किल है। बाजार के फेनामिना स्त्री-जगत की कामुक छवि पेश कर रहे हैं वे केवल स्त्रियों का ही नहीं, पुरुष जगत का भी वस्तुकरण कर रहे हैं। उसी के अनुरूप हमारी अवधारणाएँ भी निर्मित हो रही हैं। बाजार द्वारा 'ब्राण्ड' और 'मॉडल' का प्रचलन, विनियम की संहिताएँ नित नए उन्मादी आकर्षणों के उत्पाद पर टिकी हुई हैं। इसलिए उनका वस्तुकरण से सीधा और गहरा रिश्ता जड़ जमाए जा रहा है। यही प्रक्रिया शिक्षा-जगत पर भी लागू होती है। पात्र स्वविरोधी कार्य-कलाप अस्वाभाविक विचार-प्रवाह से उद्विग्न और अस्थिर है। इस संतुलनहीन व्यक्तित्व के कुछ रूप 'नेमप्लेट' की रचनाशीलता में लाक्षणिक ढंग से दृश्यमान हुए हैं।

कथा के पात्रों में आंतरिक विभाजन के एहसास से जन्मी उद्विग्नताएँ, उनके तीव्र आवेग, दमनात्मक सहिष्णुता, अविश्वास की प्रतिक्रिया के जो विवादी स्वर उभरे हैं, उनमें वयःसंधि का ज्वार जितनी तीव्रता से उभरता है, अंत में उसी गति से चुपचाप भाटे में विलीन हो जाता है। ये अनुभूतियाँ पाठ्य मनोरचना से कथा की आंतरिक संबंध वाच्यता का विधान भी स्पष्ट कर देती हैं। यही पठन में रचना-विधान को भी विडम्बनापूर्ण बनाती हैं। गौर करने की बात है इसमें कहीं भी छायावादी भभकती इन्टेन्सिटी नहीं है।

आज के युग का सच यह है कि चाहे-अनचाहे 'हमारी जीवन शैलियाँ, कामनाएँ, इच्छाएँ और सपने नए साम्राज्यवाद से आक्रांत हैं। वही उन्हें बनाता और बिगाड़ता है। मनुष्य की देह पर उसका नहीं बचा है। चेतन और निर्णय पर उसका अपना स्वामित्व नहीं बचा है। इसीलिए विश्वभर के मनुष्य आज स्वयं के निर्णय की स्वतंत्रता के क्षेत्र में अजाने, अपूर्व, शक्तिशाली बाजार के चपेट में पाते हैं। कामनायें, संग्रह और त्याग जीवन और मुक्ति के नए प्रश्न आज इसीलिए विकट हो गये हैं।' (सुधीश पचौरी, आलोचना के आगे, पृष्ठ-66)

यही इस रचना का भी सच है। सचमुच हमारी अनेक गतिविधियाँ स्वाभाविक ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भों से जुड़ जाती हैं। यह भूमंडलीकरण की माया है। मैंने ऊपर गतिमानता की बात की है। यह गतिमानता राष्ट्र की सीमा के अतिक्रमण

से सम्बद्धता की है। हम इसे माल और वस्तु की गतिमानता, सूचना और संस्कृति की गतिमानता, पूंजी की गतिमानता कह सकते हैं और यही भूमंडलीकरण की प्रक्रिया है।

'नेमप्लेट' का केन्द्रीय पात्र राहुल वर्मा है। "राहुल वर्मा जिसे गुमान है कि वह चाहे तो पलक झपकते किसी लड़की को पटा ले, फिर वापस छोड़ जाए और लड़की कभी कोई शिकायत न करे। हर लड़की का दोस्त ब्रिलिएंट, हेल्पफुल। इतनी मटरगस्ती फिर भी कक्षा में अव्वल।" परन्तु राहुल अपनी असलियत को जानता और पहचानता भी है। जैसे- राहुल का सिर चकरा रहा है। अक्षय- कहाँ है वह? एक प्याला चाय- यह एक सिगरेट- यूनिवर्सिटी के ये बोझिल दिन- उस पर अच्छे नंबर लाने का शौक और ये एक से एक लड़कियाँ। हर एक ने लजाने, शरमाने, मुस्कुराने, हँसने, बातें करने और प्रेम के नए-नए तरीके ईजाद किए हैं। लेकिन सही मायने में इनमें से कभी कोई प्रेम नहीं करती- वे आभास देती हैं। मृग तृष्णा की तरह रेत में दौड़ना मृग पानी है, पानी है। मगर कहाँ-कहाँ। यूनिवर्सिटी में कुलाचें भरता राहुल वर्मा- प्रेम है मगर कहाँ? इस दुनिया में प्रेम का सही हकदार कौन है?" राहुल वर्मा का यह आत्ममंथन बड़ा सूक्ष्म और व्यंजक संकेत देता है। यहाँ आवश्यक प्रश्न आज के वास्तविक स्वरूप और इसके सामाजिक अर्थ-संदर्भ के विश्लेषण और मूल्यांकन का है।

पिछली आधी शताब्दी से 'कामुक क्रांति' विमर्श के केन्द्र में है। मास कल्चर ने ग्लोबल रूप धारण कर लिया है। यहाँ मैक्लुहन याद आते हैं जिनकी स्थापना थी कि 'माध्यम ही संदेश है।' आज सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के जन माध्यम उन्माद पैदा करते हैं। स्वामित्व का भावबोध, अधिकतम उपभोग की अनन्त आकांक्षा, अतृप्ति और अभाव, सबकुछ का माल की तरह उपयोग और उपभोग, धैर्यहीनता, कामुक आकर्षण की युवा-इमेज, तरुणों में अतिस्वायत्तता की घनघोर ललक मैनीपुलेसन की उन्मादी संस्कृति का वर्चस्व, अनिश्चितता, भय, हिंसाचार का प्रसार, व्यवहार में असहजता, नकलीपन इत्यादि। डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी ने लिखा है- 'मास कल्चर की विशेषता है कि वह उपभोग की स्वाधीनता पर बल देती है। इसके कारण विनियम और

उपभोग के सवाल प्रमुखता हासिल कर लेते हैं। उपभोग की स्वाधीनता बाजार की शक्तियों को ज्यादा से ज्यादा स्वतंत्रता देती है; किन्तु राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वाधीनता को पंगु बनाती है।”

आजकल अमूमन आलोचना में रिफ्लेक्शन से अधिक मेडिएशन पर जोर दिया जा रहा है। कहा जाता है कि पाठ निर्मित नहीं ट्रांजिटिव होता है। पाठक को छूट मिली है कि आप क्या और कैसे पढ़ते हैं।

‘नेमप्लेट’ में- ‘राहुल तुम कहाँ खोए हो?’ निशा उसे झिंझोड़ती है- “क्या सीमा की याद में खोए हो?”

“सीमा, कौन सीमा? अरे हाँ सीमा।”

“बन तो ऐसे रहे हो जैसे सीमा नाम पहली बार सुना हो। मालूम है, कल उसके साथ लाइब्रेरी में बैठे क्या कर रहे थे?”

“क्या कर रहा था?”

“और क्या करोगे? लड़कों को मौका मिले तो जो करने लगते हैं?” वह हँसती है।

“राहुल कहना चाहता है- मैं क्या कर रहा था। वही मेरे ऊपर गिरी पड़ रही थी। मैं तो उसके आँसू पोंछ रहा था। मेरे हिस्से तो यही आया है। लेकिन नहीं कहता। हँसता है जोर जोर से - ‘मैं क्या कर रहा था, तुम्हें कैसे मालूम? तुम तो वहाँ नहीं थीं। क्या कोई डिटेक्टिव एजेंसी छोड़ रखी है मेरे पीछे!’”

“डिटेक्टिव एजेंसी तो उसके पीछे लगानी पड़ती है जिसके बारे में कुछ पता न हो। तुम्हें तो पूरी यूनिवर्सिटी जानती है? और मैं! मैं तो तुम्हारी रग-रग से वाकिफ हूँ। वह गर्व से भरी है।”

इसके पहले नरेटर ने लिखा है- “अब इस सीमा और निशा को ही लो। वे दो शातिर बिल्लियों की तरह। एक हर वक्त, हर परेशानी, यहाँ तक कि ब्यावफ्रेंड प्राब्लम डिस्कस करने को ही राहुल चाहिए। कल यही तो हुआ था। वह अपने प्रेमी की शिकायतें करते-करते राहुल की छाती पर आँधी होती गई थी बिना परवाह किये कि लाइब्रेरी कोई एकांत जगह नहीं है जहाँ ऐसा कुछ हो सकता है। उसने उसके कंधे थपथपाए, सिर पर हाथ फेरा, उससे कुछ दूर खिसका। आँसू पोंछने के लिए अपना रूमाल दिया...”

पता है, तभी तो तुम्हारे पास दौड़ी चली आती हूँ। लोग तो न जाने क्या-क्या अर्थ लगाते हैं।” वह सिसकी थी।

कुछ आलोचक-पाठक नितांत वर्तमान को ही सबकुछ मान बैठते हैं। वर्तमान प्रक्रियाओं से सम्बद्ध अतीत के इतिहास को नजरअंदाज कर जाते हैं। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा ने स्पष्ट लिखा है- “नारी समुदाय की तुलना उन पक्षियों से की जा सकती है जो जाल से मुक्त हो कर भी जाल के साथ आकाश में उड़ जाती हैं। बेड़ियाँ टूटी नहीं; रूढ़ियाँ छूटी नहीं, किन्तु उसने मुक्त आकाश का स्पर्श पा लिया। इस प्रकार मुक्ति और बंधन दोनों साथ रहे और मेरे विचार से आज भी हैं” “हमारे स्वातंत्र्य संघर्ष में, अशिक्षित पर संस्कृत, शिक्षित पर असंस्कृत दोनों वर्ग का प्रतिनिधित्व है। उसमें नारी की परम्परागत सीमाओं में इतना परिवर्तन नहीं हुआ जितना उसके मानसिक जगत में स्वाभाविक हो गया।”

इस रचना में नरेटर ने नरेटिव में समय की छवि गढ़ने की जो सर्जनात्मक प्रयास किया है उसे पाठक संवाद के ढाँचे में आयत्त करता है। पात्रों की मनःस्थिति परिघटनाओं के रूप में बोधीय निजता का भी साक्षात्कार कराती है।

कवयित्री और आलोचक अनामिका की शिकायत है कि कथा में “औरतों के देह से जुड़े सत्यों का आकलन और दैहिक संवेदनाओं को अन्तर्जगत के मनोद्घाटन से साक्षात्कार नहीं मिलता।” उनके प्रश्नों के उत्तर का एकरूप ‘नेमप्लेट’ में अनुभूत होता है। इनमें घटनाओं को समय के आवेश का अनुभव कह सकते हैं।

महादेवी वर्मा ने जिस उभय- संभव भावों की चर्चा की है वह राहुल और लड़कियों के संबंध में प्रत्यक्षतः उजागर हो जाता है।

प्रश्न यह है कि प्रेम रोमांस नहीं होता। जर्मन सीयर ने लिखा है “सम्मोह का प्रेम से कोई लेना देना नहीं है, क्यों प्रेम बेहोशी, उन्माद या ग्रस्तता नहीं, एक संज्ञानात्मक कर्म है, असल में तो व्यक्तित्व की अन्तरतम क्रोड़ को पकड़ पाने का एक मात्र उपाय।”

सीमेन दबोआ ने नारी समाज के द्वन्द्व के बारे में लिखा है- ‘द्वन्द्व यह है कि या तो वह ‘अन्यता’ की नियति को स्वीकार कर ले या फिर अपनी आत्मसत्ता की वैयक्तिकता

स्थापित करे। औरत वह प्राणी है, जो मूल्यों के जगत में अपने होने का मूल्य उसी जगत में खोज रही है, जो आर्थिक और सामाजिक संरचना को जानने के लिए अनिवार्य है। हमें औरत की पूरी परिस्थिति के अस्तित्वगत परिप्रेक्ष्य में ही समझना होगा। ...परन्तु पुंसवादी संस्कृति उसकी स्वतंत्र, सक्रिय छवि बनने में बाधक है। निष्क्रियता उसकी मजबूरी बन जाती है जो स्वतंत्र पहचान बनने नहीं देती। अंततः वह इसी निष्क्रियता को सक्रिय रूप देती है। इस तरह की सक्रियता में अपनी देह को विभिन्न मुद्राओं, यौवन को विविध शैलियों में अभिव्यक्त करती है ...वह निरंतर इच्छा के विरोधाभास और द्वयर्थकता में जीने लगती है।” (स्त्री उपेक्षिता: अनुवाद- प्रभा खेतान, पृष्ठ- 145)

भूमण्डलीय संस्कृति स्थानीय संस्कृति को उदरस्थ करने के लिए उससे समझौता कर अपनी बाजार-रणनीति लागू कर रही है। इसी परिप्रेक्ष्य में नई-नई तरह की अस्मिताएँ गढ़ी जा रही हैं। उसी के अनुरूप हमारी परिवेशीय चेतना और संवेदनाएँ भी निर्मित हो रही हैं। अतएव भाषा की संरचना में भी परिवर्तन हो रहा है। मैं इसी रोशनी में इस पाठ का पठन करूँगा। उसी से सांस्कृतिक चेतना में नित नए बदलाव का भी बोध होगा।

एक नारी आलोचक ने लिखा है- “स्त्री की बोलचाल की भाषा में पुरुषों की तुलना में ज्यादा झिझक, धारा प्रवाह का अभाव, कम से कम तार्किक, कम से कम स्वार्थ ही होती हैं। स्त्रियाँ अमूमन पुरुषों की तुलना में ज्यादा खामोश, कम से कम दखलअंदाजी करने वाली, ज्यादातर इशारा की भाषा में बोलने वाली, और पुरुषों से ज्यादा क्रियाओं का प्रयोग करती हैं, बातचीत में प्रतिस्पर्धा की बजाय सहयोग की रणनीति पर जोर देती हैं।”

प्रस्तुत कहानी उक्त मिथ को तोड़ देती है। उदाहरण के लिए “शट अप यू इडियट। अपने से डरते क्यों हो इतना! जो कुछ करो सो अकेले में! क्यों भला, जिससे तुम्हें कोई देख न सके!”

“यहाँ बैठ कर तुम मेरे पास क्या कर लोगे” ज्यादा से ज्यादा मेरा हाथ पकड़ लोगे। मेरे कंधे पर अपना हाथ रख लोगे। बहुत हुआ तो मुझे किस कर लोगे। इससे ज्यादा क्या? और तुम क्या कर लोगे, कहो तो मैं सबके सामने

‘किस’ कर के दिखाऊँ।”

“मेरी लिपिस्टिक तुम्हारे गालों पर लग जायेगी तो बदनामी तो मेरी भी होगी।”

यह अंतर विषयी आत्म-संप्रेषण और ‘अन्य’ के साथ संवाद में सृजित हुआ है। ये संवाद व्यक्तित्व की आवृत्ति मूलक गाठों को खोलते हैं। यहाँ संस्कार और संवेदन का द्वन्द्व भी आभासित होता है। घटनाओं और प्रक्रियाओं के क्रम में जिस मनोवैज्ञानिक काल का दर्शन होता है उनमें संबंधों का तनाव है, स्थितियों की टकराहट है। इसीलिए कहा जाता है कि भाषा की आत्मा उसकी प्रक्रिया में है। पाठक यहाँ संदर्भों को भावपरक रूप में ग्रहण करता है। कुछ लोग इसे अवैज्ञानिक कह सकते हैं। कहना न होगा कि विज्ञान स्थिति का अवधारणात्मक ज्ञान देता है। परन्तु कला जगत में हम उस स्थिति का अनुभव करते हैं। उसी कलात्मकता और वैज्ञानिकता से हम रचना में विचारधारा परखते हैं।

ऐतिहासिक प्रक्रिया में अर्थ भी परिवर्तित होते रहते हैं। बेंजामिन ने लिखा भी है कि “व्यक्तिगत चेतना उन्हें अपने निजी स्वराधातों के रूप में आत्मसात कर लेती है।” इसीलिए हम अस्तित्व को निरंतर आविष्कृत करते रहते हैं। कृति में भी रचनाकार जगत के मनोमय बिम्ब रचता है।

इसी नरेशन में पाठक की संबंधों में असंगतियों, विडम्बनाओं को एक वस्तुगत आधार मिल गया है। लॉका के अनुसार- प्रत्येक संवृत्ति चेतना होती है। संवृत्ति (फेनामिना) आकांक्षा में अभिव्यक्त होती है। मेरी समझ से स्त्रियों की स्थिति यह होती है कि वे अपने बंद और सीमित परिवेश में छद्म चेतना के आवरण ‘काल्पनिक आत्म’ के गह्वर में डूबती उतराती हैं। जब उन्हें ‘वास्तविक आत्म’ का सामना करना पड़ता है तो ‘काल्पनिक आत्म’ और ‘वास्तविक आत्म’ में तनाव महसूस होता है। यह सिद्धांत केवल बच्चों पर ही नहीं वयस्कों पर लागू होता है। “भाषा में प्रवेश के जरिए अवचेतन व्यक्ति में रूपान्तरित हो जाता है... और शब्द हमारी अनुपस्थित वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ...अवचेतन इच्छाएँ हमारी भाषा के अंतरालों में प्रवेश कर जाती है। ...चोदोरोव नामक आलोचक ने लॉका की आलोचना करते हुए यह स्थापना दी है कि “अस्मिता

व्यक्तित्व और कामुकता वस्तुतः प्रतीकात्मक रूप से लिंगभेद के प्रतीक हैं।” (डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी)

परन्तु कथा के अंत का विन्यास बदल जाता है।

“सुबह का वक्त है। चिड़ियों ने अभी चहचहाना बंद किया है। कोई कालबेल बजा रहा है लगातार। घर में सब लोग सोये पड़े हैं नौकर तक। राहुल की भी नींद खुल जाती है। वह स्लिपर्स पहन कर दरवाजे पर जा, दरवाजा खोलता है।

“अरे!” वह चौंक उठता है।

“अंदर आने को नहीं कहेंगे?”

“हाँ-हाँ, आइए। बैठिए, कहिए।”

“मैं कौन हूँ?”

“अब सवाल! आप एक लड़की हैं निर्मला। कल ही तो मैं आपसे मिला था।”

“जी, उसी मुलाकात के सिलसिले में मैं आप से मिलने आई हूँ।”

“जी फरमाइए।”

“मैं कैसी दीखती हूँ!” निर्मला सीधे उसकी आँखों में देखती है।

“आप” राहुल पसीने-पसीने हो उठता है “आप सुन्दर ही दीखती हैं।”

“हीं का क्या मतलब?”

“नहीं-नहीं- आप सुंदर हैं, बहुत सुंदर।”

“गोरी हूँ न!”

“हाँ।”

“अगर काली होती तब?”

“तब भी आप सुंदर लगतीं। गोरा काला तो सब मन का वहम है।”

“अच्छा मेरी दोनों आँखें हैं न!”

“जी।”

“भेंगी या कानी भी नहीं हूँ?”

“बिल्कुल नहीं।”

“मेरी आँखें बहुत बड़ी नहीं तो छोटी भी नहीं।”

“जी।”

“काजल या आई लाइनर लगा लूँ तो और अच्छी लगूँगी।”

.....

“अब यह बताइए मेरे चेहरे पर एक नाक, दो ओठ, दो भवें, दो कान, मुँह में दाँत भी हैं।”

“जी-हां-हैं।”

.....

“जी हाँ जानती हूँ। आपके हिसाब से और भी देख लीजिए। देखिए मेरे दोनों हाथ ठीक हैं। दोनों पाँव ठीक हैं। खुद चलकर यहाँ आई हूँ। हाथों में दस और पाँवों में दस अंगुलिया मौजूद हैं। फर्स्ट डिवीजन में एम.ए. पास हूँ, पी.एच.डी. कर रही हूँ। कुछ सुन रहे हैं आप?”

“जी सुन रहा हूँ।”

“तो यह बताइए कि कल मुझे नापसंद क्यों किया?” लड़की की धीमी आवाज दहाड़ में बदल जाती है।

“मि. वर्मा देखिए।” लड़की अपने ब्लाउज में छिपाया टेप रिकार्डर निकालती है “मैंने आपकी सारी बातों को टेप कर लिया है। कॉलेज के जमाने रहे होंगे नं. वन फ्लर्ट, लेकिन अब आप किसी लड़की का अपमान नहीं कर सकते। मुझे कल तक शादी की डेट चाहिए। यह डेट मैं कोई बंदूक की ज़ोर पर नहीं, तुम्हारे बयानों के आधार पर मांग रही हूँ।”

लड़की तूफान की तरह बाहर निकल जाती है। इतनी बड़ी पराजय राहुल वर्मा ने अपनी ज़िन्दगी में इससे पहले कभी नहीं देखी है। इससे पहले तो वह दूसरों को पराजित करता रहा है।”

नरेशन से ऐसा लगता है, मानो राहुल वर्मा को एकाएक उछाल कर निर्मला के पैरों में डाल दिया गया हो, क्योंकि यहाँ आकर पुरुष-प्रभुत्व के रूढ़िवाद का संतुलन उलट जाता है।

सचमुच अस्तित्व को निरंतर आविष्कृत रूप में पाया जाना ‘वास्तविक आत्म’ को पाये जाने की एक सरल प्रक्रिया कही जायेगी। क्योंकि मनुष्य भी एक प्रक्रिया है।

संपर्क :

एच/13, एल.आई.जी. इस्टेट, 8/1, रुस्तम जी पारसी रोड,
काशीपुर, कोलकाता- 700002, मो. 9038340568

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पत्र

डॉ. वर्षा गायकवाड़

साहित्यकारों के पत्रों द्वारा लिखे गये पत्रों में उनकी भावनाओं, विचारधाराओं, मनोवृत्तियों, आकांक्षाओं, सफलताओं आदि की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त साहित्यकारों के जीवन चरित्र से संबंधित तथ्यों शिक्षा-दीक्षा, पारिवारिक स्थिति कष्ट और यातनाएँ, सम्मान, पुरस्कार आदि की झलक भी पत्रों में मिलती है। दो साहित्यकारों के बीच पत्र व्यवहार में साहित्यिक आंदोलनों, वादों, प्रवृत्तियों, कृतियों आदि के बारे में भी विचारों या अभिमतों का आदान प्रदान होता है। साहित्यकार के पत्रों में सामयिक घटनाओं या प्रश्नों पर प्रतिक्रिया भी व्यक्त होती है। पत्रों की भाषा शैली के कई रंग होते हैं। साहित्यकारों के पत्रों का अनुशीलन निम्नलिखित चार वर्गों में बाँटा जा सकता है।

अ) साहित्यकारों का व्यक्तित्व

ब) वैचारिक भूमिका

स) समकालीनता

द) भाषा शैली

उत्तर प्रदेश के जिला रायबरेली के दौलतपुर गाँव में जन्मे महावीर प्रसाद द्विवेदी रेलवे की नौकरी छोड़कर सन् 1903 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक बने जो चिंतामणि घोष के स्वामित्व वाले इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित होती थी। सन् 1900 तक द्विवेदी जी लेखकों की प्रथम श्रेणी में आ गये थे तभी तो बाबू श्यामसुंदर दास ने संपादक के रूप में उनका नाम सुझाया। द्विवेदी जी के पत्रों का संकलन 'द्विवेदी पत्रावली' भारतीय ज्ञानपीठ से सन् 1954 में प्रकाशित हुआ। विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध इन पत्रों का संकलन श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' ने किया है। 'आमुख' में अपने विचार व्यक्त करते हुए राजबली पाण्डेय ने लिखा है—

‘उनके पत्र प्रायः समसामयिक कवियों और साहित्यकारों को लिखे गये हैं। इसलिए उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। कुछ व्यक्तिगत प्रसंगों को छोड़कर द्विवेदी जी के पत्र किसी-न-किसी भाषा संबंधी प्रश्न अथवा साहित्यिक समस्या पर लिखे गए हैं।’

क) वैयक्तिकता—

श्री राजबली पाण्डेय ने 'आमुख' में लिखा है— 'पत्रों में द्विवेदी जी के साहित्यिक रूप के साथ-साथ उनके व्यक्तिगत जीवन की भी झाँकी मिलती है।' दिनांक 25-05-1915 को अपने गाँव दौलतपुर से कविवर मैथिलीशरण गुप्त को लिखे पत्र में द्विवेदी जी ने अपने शारीरिक और

मानसिक कष्टों का जिक्र किया है- 'कौटुम्बिक जीवन विषम हो रहा है। मेरे शरीर की रक्षा करने वाला कोई नहीं। जिनको मैंने अपना कुटुम्बी बनाया है वे मुझे फलवान् वृक्ष समझकर डंडों और ईंटों की मार से शीघ्र की कच्चे, पके फल गिराकर हड़प कर जाना चाहते हैं।'¹ गाँवों में चोरिया होना आम बात है। दि. 26-06-1920 को रायकृष्णदास को लिखे पत्र में अपने यहाँ हुई चोरी की सूचना देते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं- '16 जून की रात को मेरे घर यहाँ चोरी हुई। नकद, जेवर, कपड़े, बर्तन कोई 2000 का माल उड़ गया। यहाँ और था ही क्या। 10 रोज हुए न चोरी का पता न चोरों का। जूता टोपी तक मेरी गई। धोती मात्र रह गई। नंगा बैठा हूँ। कुटुम्बियों की प्रायः यही हालत है। कानपुर से पहनने के कपड़े मँगाने हैं। मैं शांत हूँ। संसार ही नाशवान है, चीज वस्तु की कौन बात। पर कुटुम्बियों को बहुत कष्ट हुआ है।'² हिंदी के प्रकाशक कभी ईमानदार नहीं रहे हैं। द्विवेदी जी भी उनकी शोषण का शिकार हुए थे। रायकृष्ण दास को भेजे पत्र (दि. 27-08-1929) से हमें ज्ञात होता है- 'कुछ प्रकाशकों ने हमें धोखा दिया है। साहित्यालाप नामक पुस्तक खंगविलास प्रेस से छपा है। छपे 5 महीने हो गये। 500/- से ऊपर उनसे पाना है। पर चिट्ठी का जवाब नहीं देते। आपकी जान-पहचान का वहाँ कोई हो तो उसकी मारफत उलाहना दिलाया जाय।'³ ईमानदारी और सत्यनिष्ठा के गुणों के साथ-साथ द्विवेदी जी में व्यावहारिकता भी थी। अपनी 'विचार-विमर्श' शीर्षक पुस्तक वे जल्द से जल्द छपवाना चाहते हैं। प्रयाग के प्रकाशक रामनारायण लाल और प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी प्रोफेसर पं. देवीप्रसाद शुक्ल उनसे पाठ्य-पुस्तक लिखवाना चाहते हैं। उन्हें टुटप्पी जवाब देकर टाल दिया गया लेकिन रायकृष्णदास से शीघ्र छपवाने का आग्रह करते हैं- 'संभव है कोशिश करने से यह पुस्तक कोर्स-करार दे दी जाय। काशी और आगरेवाले भी बहुत करके इसे ले लेंगे। अतएव इसे जल्दी छपवा दीजिए। छप जाने पर मैं इन लोगों को लिख दूँगा कि एक वैसी पुस्तक तैयार हो गई।'⁴

पंडित द्विवेदी जी अपने पत्रों में अपने स्वास्थ्य और बीमारियों की भी चर्चा करते हैं। रायकृष्ण दास को दि.

29-11-33 को लिखे पत्र में रुग्णता की चर्चा है- 'कुछ समय से मेरा उन्नीद्र रोग बढ़ गया है। बहुमूत्र (Diabetes) के भी लक्षण दिखाई दे रहे हैं। देखूँ कब तक शरीर चलता है।'⁵ सन् 1910 के पत्रों में अक्सर द्विवेदी जी अपनी शारीरिक कमजोरी की चर्चा करते हैं। पद्मसिंह शर्मा को लिखे पत्रों में यही स्थिति है- 'कल आपकी हस्तपुस्तक और प्रूफ पढ़ा। दो एक अखबार भी पढ़े। इतने से ही दिमाग में विशेष खराबी पैदा हो गयी। कल रात को बिलकुल ही पलक नहीं लगी।'⁶ शर्मा जी को ही दि. 21-10-10 के एक अन्य पत्र में सूचित किया गया है- 'मुझे आज दिन से ज्वर, कफ, खाँसी आदि तंग कर रहे हैं।'⁷

द्विवेदी जी अपने मालिकों के प्रति पूर्ण निष्ठा और स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करते हैं। द्विवेदी जी अपने गाँव दौलतपुर से निर्देश देते हुए 'सरस्वती' का संपादन करते रहे। लल्लीप्रसाद पाण्डेय को लिखे पत्र में इस स्वामिभक्ति की झलक मिलती है- 'अगर बड़े बाबू आज्ञा देंगे तो नाम अपना दिसम्बर तक 'सरस्वती' में रहने दूँगा। पर काम अब मैं इन्हीं से कराना चाहता हूँ।'⁸ उन्हीं को एक अन्य पत्र (दि. 10-06-20) में लिखते हैं- 'जो कुछ हो, बड़े बाबू की आज्ञा का पालन शरीर में प्राण रहते अवश्य करूँगा। उन्हें यह पत्र चुपचाप सुनाकर फाड़ डालियेगा।'⁹

द्विवेदी जी ग्रामीण मरीजों के हितार्थ अपने दौलतपुर गाँव में एक अस्पताल खुलवाना चाहते हैं। अधिकारियों से लिखा पढ़ी का कुछ असर न होने पर रायबरेली के एडवोकेट पं. गुरुदयाल त्रिपाठी को पत्र लिखकर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन से काम करवाने के लिए प्रयत्न करने का अनुरोध करते हैं- 'तीन वर्ष से बोर्ड को लिख रहा हूँ कि यहाँ एक वैद्य भेजकर औषधालय खोल दो। पहले तो बोर्ड ने ऊलजलूल एतराज किये। फिर मंजूरी दे दी। लिखा कि कहीं औषधालय बंद करके यहाँ खोल दिया जाएगा। तब तक बोर्ड पर सरकार ने कब्जा कर लिया। अब जो फिर हम लोगों की अमलदारी हुई तो कोई चिट्ठी का जवाब तक नहीं देता।'¹⁰

ख) वैचारिकता-

हिंदी भाषा का सुधार, लोक रुचि का परिष्कार और लेखक निर्माण का कार्य- द्विवेदी जी की साहित्य-साधना

की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि है। रीतिकालीन शृंगार-काव्य के वे कट्टर विरोधी थे। संस्कृत साहित्य से उन्हें अतीव प्रेम था। लेखन का उनका आदर्श था सरल, सुबोध एवं व्याकरण सम्मत भाषा में पाठकों तक अपनी बात पहुँचाना। उन्होंने कवियों एवं लेखकों को विषय सुझाए। 'सरस्वती' के लिए आई सामग्री की भाषा सुधारने में वे बहुत कष्ट उठाते थे। वे वैज्ञानिक दृष्टि के समर्थक थे। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के निर्माण में द्विवेदी जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे गुप्त जी से राजा रवि वर्मा के चित्रों पर पद्य-पंक्तियाँ लिखाते थे। एक पत्र में वे कवि को नसीहत देते हैं- 'जरा सरलता का ध्यान रखा कीजिए जिसमें पढ़ते ही मतलब समझ में आ जाय।'¹¹ गुप्त जी ने अपनी कोई रचना उनके पास सुधार व परामर्श के लिए भेजी। उसे परखने के बाद द्विवेदी जी ने अपने आदर्श के अनुरूप महत्वपूर्ण सुझाव दिया है- 'इसमें कहीं कहीं पर क्लिष्टता खटकती है। यथा संभव उसे दूर करने का यत्न कीजियेगा। नहीं तो टिप्पणियाँ दे दीजिएगा।'¹² गुप्त जी को ही प्रेषित एक पत्र में द्विवेदी जी की काव्य संबंधी अवधारणा व्यक्त हुई है- 'राजपुताने की घटना पर भी काव्य लिखिए। एक बात का विचार रखियेगा। भाषा सरल हो। भाव सार्वजनीन और सार्वकालिक हो। सब देशों के सब मनुष्यों के मनोविकार प्रायः एक से होते हैं। काव्य ऐसा होना चाहिए जो सबके मनोविकारों को उत्तेजित करे- देश-काल से मर्यादाबद्ध न हो। ऐसी ही कविता अमर होती है।'¹³ गुप्त जी 'भारत-भारती' रचने की सोच रहे थे। द्विवेदी जी ने उन्हें प्रेरणा व सलाह दोनों दी- 'मुसद्दस को किसी मौलवी से जरूर सुनिए और समझिए। हरिगीतिका छन्द बुरा नहीं। कविता खूब ओजस्विनी और यथास्थान कारुणिक होनी चाहिए। संभल-संभल लिखिएगा। देरी हो तो हर्ज नहीं।'¹⁴ उसके कुछ अंशों को 'सरस्वती' में छापने का आश्वासन भी दिया। द्विवेदी जी के पत्रों में उनकी साहित्यिक मान्यताएँ अभिव्यक्त हुई हैं। गुप्त जी द्वारा किए गए 'व्यायोग' के अनुवाद को पढ़ने के बाद द्विवेदी जी ने जो प्रतिक्रिया व्यक्त की है, उससे उनकी अनुवाद संबंधी अवधारणा स्पष्ट होती है- 'आपने पद्य में मूल की बड़ी हठता से अनुसरण किया है। यह ठीक नहीं। उसके शब्दार्थ की परवाह न करके

उसके भावों का ही अनुवाद होना चाहिए। वह भी बामुहाविरा हिंदी में। जितं जितं का आप जीते आप जीते- हिंदी का मुहाविरा नहीं। गद्य की हिंदी इसी कारण बहुत क्लिष्ट हो गई है। मुनासिब समझिए तो गद्य भाग का संशोधन कर दीजिए। दो ही चार घंटे का काम है।'¹⁵ इसी तरह द्विवेदी जी ने कई लेखकों को सलाह व प्रेरणा देकर लेखन में प्रवृत्त किया।

ग) समकालीनता-

पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने समय की घटनाओं पर सतर्कतापूर्वक ध्यान देने वाले व्यक्ति थे लेकिन सरकारी नियमों कानूनों की अवहेलना न वे स्वयं करते थे न दूसरों को करने की सलाह देते थे। कविवर मैथिलीशरण गुप्त को काव्य-लेखन हेतु प्रोत्साहित करते हुए एक पत्र में सरकार के विरुद्ध कुछ भी न लिखने की सलाह देते हैं- 'कोई बात समय और सरकार के विरुद्ध न रहे। इशारा भी न रहे। कल नया कानून बना है। कानून क्या मार्शल्ला-जंगीकानून है। फांसी तक की सजा है।'¹⁶

बैजनाथ सिंह 'विनोद' ने द्विवेदी जी के बारे में लिखा है कि वे अपने युग में प्रसिद्ध लड़ाके थे पर उस लड़ाई में भी उनकी नैतिकता थी। वह सार्वजनिक जीवन को बिगाड़नेवाली लड़ाई नहीं लड़ते थे।'¹⁷ उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट की कड़ी आलोचना की जिसे सभा सहन न कर सकी और द्विवेदी जी के प्रति अपना रोष व्यक्त किया। द्विवेदी जी निडर और अडिग रहे। उन्होंने 'सरस्वती' पर से नागरी प्रचारिणी सभा का समर्थन हटा दिया, सभा की सदस्यता छोड़ दी और आजीवन सभा के भवन में जाने से बचते रहे। सभा की ओर से काशी में कोई सम्मेलन आयोजित है। द्विवेदी जी उसमें शरीक नहीं होना चाहते थे। रायकृष्णदास को लिखे पत्र (दि. 2-10-10) में शरीक न होने का कारण बताया गया है- 'मैं उसमें इसलिए शरीक नहीं होना चाहता कि सभा के भवन पर अहाते में वह होगा और सभा ही के कार्यकर्ता उसके कार्यकर्ता हैं। जिस सभा ने मुझे सभा से हटाने की कोशिश की और जिसके मैंने इतने दोष दिखलाये, उससे अब मैं सम्पर्क नहीं रखना चाहता।'¹⁸ देश की राजनीतिक स्थिति से वे पूर्णतः परिचित थे। उसमें उलझने से वे स्वयं और

‘सरस्वती’ को बचाए रखते थे। पं. पद्मसिंह शर्मा को एक पत्र में (दि. 16-07-02) किसी लेखक के राष्ट्रीय गीतों को ‘सरस्वती’ में प्रकाशित करने में असमर्थता प्रकट करते हैं- वे (National) गीत हम ‘सरस्वती’ में न छापेंगे। आजकल की राजनैतिक स्थिति आपसे छिपी नहीं है। लेखक को सूचना दे दीजियेगा।’¹⁹

घ) भाषा-शैली-

सरल, सुबोध, बोधगम्य भाषा के समर्थक द्विवेदी जी के पत्रों की भाषा इसी आदर्श की राह पर चलती है। बहुत व्यावहारिक भाषा है। इसमें पंडिताऊपन, अलंकारमयता या काव्यात्मकता जरा भी नहीं है। उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी सभी प्रकार के शब्द हैं। इसमें शरीक, उद्धृत, नेशनल सभी प्रकार के शब्द मिलते हैं। उनकी भाषा में उनका सरलता से युक्त स्पष्टवादी व्यक्तित्व विद्यमान दिखाई देता है।

संदर्भ :

1. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 133
2. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 145
3. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 148
4. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 150
5. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 152
6. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ

काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 102

7. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 105

8. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 171

9. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 172

10. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 210

11. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 108

12. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 113

13. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 114

14. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 116

15. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 124

16. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 130

17. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 27

18. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 141

19. द्विवेदी पत्रावली- बैजनाथ सिंह विनोद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ- 88

संपर्क :

प्लॉट नं. 8, गली नं. 1, रुक्मिणी गार्डन्स के पास

वानलसवाड़ी, सांगली- 416416 (महाराष्ट्र)

मो. 9422154117

तमसः उपनिवेशवादी सोच की त्रासद परिणति

डॉ. हरेराम पाठक

भीष्म साहनी के बहुचर्चित उपन्यास 'तमस' का प्रथम प्रकाशन सन् 1973 ई. में हुआ जिस पर 1975 में 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार प्राप्त हुआ तथा रंगीन पर्दे पर दर्शाए जाने का भी इसे सौभाग्य प्राप्त हुआ। भारत-पाक विभाजन का होना सन् 1947 की एक ऐसी त्रासद घटना है जिसका विष-फल अभी भी दोनों देशों को भोगना पड़ रहा है और शायद अनंत काल तक भोगते रहना होगा। 'तमस' उपन्यास में इस तथ्य को तत्कालीन कथा सूत्रों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

समान्यतः तमस में दिखलाये गये दंगे को हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगे के रूप में दिखलाये जाने की चेष्टा की जाती रही है, परंतु मेरा मकसद इसे सांप्रदायिक दंगे का प्रत्याख्यान के रूप में न दिखाकर उपनिवेशवादी सोच की त्रासद परिणति के रूप में दिखाना है। जिस प्रकार की घटना 'तमस' में प्रस्तुत की गई है वह उपनिवेशक की खोज है। उपनिवेशक की सोच होती ही है स्वयं को सत्तासीन बने रहना। सत्तासीन बने रहने के लिए उपनिवेशक साम, दाम, भय, भेद की नीति अपनाता है। साम, दाम, भय आदि से जब उपनिवेशित उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं तो वह अपने अंतिम अस्त्र 'भेद' की नीति अपनाता है। अंग्रेजों ने इसी नीति को अपनाकर पूरी दुनिया पर राज किया था। विशेषकर भारत के संदर्भ में यह बात पूरी तरह सत्य साबित होती है। ऐसी बात नहीं है कि 'फूट डालो और राज करो' (Divide and rule) मात्र अंग्रेजों की नीति रही है, प्राचीन एवं बहुत दूर तक अब तक भी यह भारतीय राजनीति का मूल मंत्र रहा है। अंतर सिर्फ इतना ही है कि अंग्रेजों ने इस नीति का प्रयोग अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए किया परंतु प्राचीन भारतीय राजाओं ने अपने देश के ही भीतर सत्ता सुख प्राप्त करने के लिए किया। हम चाहे जितने भी सभ्य हो जायें परंतु साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस घृणित खेल में ही अपरिमित आनंद की प्राप्ति करती हैं। इस घृणित खेल का रास्ता सांप्रदायिक दंगों की खून भरी गलियों के अंधेरे में जाकर विलीन हो जाता है।

भीष्म साहनी का जन्म और व्यक्तित्व-विकास रावलपिंडी में हुआ था और मार्च 1947 में रावलपिंडी शहर और आस पास के 120 गाँवों में 5-6 दिन के सांप्रदायिक दंगे हुए, जिन्हें लेखक ने स्वयं नजदीक से देखा था। अपने उन दिनों के अनुभवों के आधार पर भीष्म साहनी ने करीब चौथाई सदी बीत जाने के बाद इस उपन्यास की रचना की। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस दौरान भीष्म साहनी ने अपने अनुभवों को खूब पकाया, उस पर गहन विचार विमर्श किए और तब जाकर लगभग 25 वर्षों बाद उन्होंने 'तमस' की रचना की। इस संबंध में उनकी निम्नलिखित पंक्तियों पर ध्यान देना आवश्यक है-

“सन् 42 के देश व्यापी ‘भारत छोड़ो आंदोलन’ के बाद स्वतंत्रता संघर्ष की रीढ़ तोड़ने का यह षड्यंत्र था और अंग्रेजों के हाथ में सांप्रदायिकता का हथियार ही सबसे बड़ा हथियार था।”¹

‘तमस’ उपन्यास को समझने के लिये भीष्म साहनी का यह स्वकथन बहुत महत्व रखता है। सच है ब्रिटिश उपनिवेशवाद के लिए सांप्रदायिकता एक हथियार ही थी। एक ऐसा माध्यम थी जिसके इस्तेमाल से भारतीय नागरिकों में वैमनस्य का कोहरा एवं खूनी खेल का नग्न तांडव खेला जा सकता था।

सन् 1857 के सिपाही विद्रोह के बाद अंग्रेज यह समझ गये थे कि अब वे कुछ ही वर्षों तक भारत में शासन कर सकेंगे। अतः अपनी सत्ता को कुछ और लम्बी खींचने के लिए उन्होंने हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य को बढ़ावा देना ही महत्वपूर्ण समझा। जिन्ना जैसे असांप्रदायिक सोच के व्यक्ति के मानस में भी इस कदर सांप्रदायिकता की जहर घोल दी गई कि महात्मा गाँधी से उन्हें कहना पड़ा- “इस देश के सभी हिंदू गाँधी नहीं हैं। हिंदू और मुसलमान दोनों के संस्कार एवं सभ्यता अलग-अलग हैं। वे एक होकर नहीं रह सकते।” परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद अपने षड्यंत्र में कामयाब हुआ और भारतवर्ष पहली बार (1905) टूटा तो पूर्वी बंगाल (अब बांग्लादेश) और दूसरी बार टूटा तो पाकिस्तान बना। सन् 1855 ई. से पूर्व भारतीय समाज में किसी तरह के सांप्रदायिक तनाव के प्रमाण नहीं मिलते। ‘जजिया’ कर और औरंगजेब आदि

बादशाहों की ‘सांप्रदायिकता’ के तमाम विवरणों के बावजूद।”² रजनी पामदत्त ने भी लिखा है- “अंग्रेजों का शासन कायम होने से पहले भारत में उस तरह के हिंदू-मुस्लिम झगड़े कभी नहीं दिखाई दिये और झगड़े अंग्रेजी शासनकाल में और खासतौर से इसके अंतिम दिनों में देखने को मिले।”³ स्वयं महात्मा गांधी ने लुई फिशर से बातचीत में सांप्रदायिकता के लिए अंग्रेजों को जिम्मेदार ठहराया था। ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ में भी पं. जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है- “भारत के अल्पसंख्यक यूरोप के अल्पसंख्यकों की भांति नस्ली तौर पर भारत एक मिश्रित प्रजातियों का देश है पर यहाँ नस्ल को लेकर कभी कोई प्रश्न नहीं उठे।”⁴

इन सब उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होती है कि भारतीय सांप्रदायिकता उपनिवेशवादी सोच से उपजी अत्यंत घृणित एवं त्रासद कुकृत्य है। उपनिवेशवादी सोच को मजबूती प्रदान करने के लिए उपनिवेशकों ने इतिहास का सहारा लिया था। सांप्रदायिक भावनाओं को दृढ़ करने वाली अनेक भावनाएँ इतिहास के पन्नों में भर दी गयीं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे भावनाएँ हमारे पाठ का आवश्यक अंग बनती चली गयीं। वे सांप्रदायिक भावनाएँ हमारे मन में इस प्रकार पैठ गयीं कि अब वे हमारा संस्कार बन चुकी हैं। इसे सांप्रदायिक इतिहास लेखक के दुष्परिणाम के रूप में भी देखा जा सकता है। ऐसा केवल भारतवर्ष में ही नहीं हुआ। जर्मनी में हिटलर के शासन के तहत सैकड़ों इतिहासकारों ने जर्मन जाति को श्रेष्ठ बताने वाले नाजी सिद्धांत को सिद्ध करने के लिए हजारों पुस्तकें लिखीं। हमारे देश में सैकड़ों अंग्रेज लेखकों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं हैं, उनकी सभ्यता में उन्हें केवल खेती-बाड़ी के योग्य बनाया है, आधुनिक उद्योगों के योग्य नहीं।

उपनिवेशवादी वर्चस्व अथवा उपनिवेशक वर्ग केवल वे ही लोग नहीं कहे जा सकते जो किसी देश विशेष पर शासन करते हुए उपनिवेशितों पर हर प्रकार से अपना प्रभुत्व कायम रखते हैं, बल्कि उपनिवेशित देश का वह बौद्धिक वर्ग भी उपनिवेशक ही है जिसकी बुद्धि विदेशी उपनिवेशकों द्वारा संचालित होती रही है। एक पक्षीय अथवा

सांप्रदायिक इतिहास-लेखन का जिम्मेदार इसीलिए केवल ब्रिटिश ही नहीं, भारतीय इतिहास लेखक भी हैं। भारतीय इतिहास-लेखन की एक प्रमुख कमजोरी राजनैतिक घटनाओं, युद्ध और कूटनीति पर सर्वाधिक बल देने में दिखाई पड़ी। इससे भी सांप्रदायिक दृष्टिकोण को बल मिला। तात्पर्य यह है कि इतिहास-लेखन में राज्य-सीमाओं के विस्तार को अधिक महत्व दिया गया, उस समय के वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास को, जो इतिहास के सकारात्मक पहलू थे सर्वथा दबा दिया गया। कृषि और औद्योगिक विकास की प्रक्रियाएँ तो और भी अलिखित रह गयीं। इतिहास को पढ़कर जो साहित्य लिखे गये उसमें भी सकारात्मक प्रगति का अभाव ही रहा। हिंदी साहित्य का वीरगाथा काल इसका ज्वलंत उदाहरण है। इन सब व्यौरों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य यही है कि 'तमस' में जिस सांप्रदायिक उन्माद का वर्णन हुआ है उसकी जड़ें उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद के तहत लिखे गये इतिहास-पुस्तकों में देखी जा सकती हैं। यदि भारतीय इतिहास-लेखन का प्रारंभ हम अंग्रेजों से माने तो उन लोगों ने भारत एवं इसके विभिन्न प्रांतों एवं जातियों का इतिहास यही सोचकर लिखा था कि भारतीयों में एक दूसरे के प्रति गैर समझ और अज्ञानता है अतः उनको बरगलाने एवं आपस में लड़ाने का भरपूर लाभ उठाया जा सकता है। 'तमस' का डिप्टी कमिशनर रिचर्ड कहता है- "यहाँ के लोग कुछ नहीं जानते। वे वही जानते हैं जो हम उन्हें बताते हैं।... ये लोग अपने इतिहास को जानते नहीं, ये केवल उसे जीते भर हैं।" रिचर्ड का यह कथन कथाकार भीष्म साहनी के गहन अनुभव एवं चिंतन का परिणाम है। आज भी यह बात सत्य है कि यदि हम अपना इतिहास जानने की कोशिश भी करते तो हमें आज अंग्रेजों द्वारा लिखे इतिहास के प्रति अंधभक्ति नहीं रहती। यहाँ एक उदाहरण भर देना काफी है 'हिस्ट्री ऑफ असम' के लेखक एडवार्ड गेट ने अपने इतिहास पुस्तक में मणिराम दीवान का नाम तक नहीं लिखा है परंतु जिसने उन्हें फांसी पर लटकाया उसकी प्रशंसा में पूरे पृष्ठ तक लिख डाले हैं। फिर भी इस तथ्य के प्रति कहीं भी किसी का विरोध नहीं देखा गया। अतः रिचर्ड का यह कहना कि "ये लोग अपने इतिहास को जानते नहीं उसे जीते भर हैं"

बिल्कुल सही है। परंतु यह भी सच है कि रिचर्ड की इस मान्यता के पीछे एक विशिष्ट सोच है जो श्रेष्ठता ग्रंथि के रूप में उपनिवेशवादी शक्ति से निकलता है, जिसने देशी लोगों की समझ को जकड़ रखा है। इसी सोच का नतीजा है कि उपनिवेशक शक्तियों के अनुकूल रहने वाले लोगों को पुरस्कृत किया जाता है अथवा उपाधियाँ दी जाती हैं और प्रतिकूलों को कुचला जाता है। सभी प्रतिकूल एकजुट होकर उपनिवेश के सामने चुनौती न बन जाय इसलिए उन्हें नये-नये उपखंडों में बांटकर कमजोर बनाया जाता है। 'तमस' में इन्हीं सब बिंदुओं को भीष्म साहनी ने अपने गहन अनुभव के आधार पर रेखांकित किया है। अपनी पत्नी लीजा के सामने अपनी धूर्तता भरी चालबाजी को प्रकट करते हुए रिचर्ड कहता है- "सुनो! सभी हिंदुस्तानी धर्म के नाम पर खून करने वालें, सभी व्यक्तिवादी होते हैं, और सभी सफेद चमड़ीवाली औरतों को पसंद करते हैं...। (44) इसका सटीक उत्तर लीजा ही दे देती है- "बहुत चालाक नहीं बनो, रिचर्ड। मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर ये सब लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ते हो। क्यों, ठीक है ना?"

ऐसी बात नहीं है कि इस हकीकत को केवल लीजा ही जानती है, लीजा तो माध्यम मात्र है, एक प्रतीक है जिसके माध्यम से अंग्रेजों की आधी आबादी यह स्वीकार करती है कि वे भारतीयों के खिलाफ जो कुछ कर रहे हैं वह अन्यायपूर्ण है। लीजा को हिंदुस्तानियों के प्रति सहानुभूति है जबकि रिचर्ड को सिर्फ प्रशासन को चुस्त-दुरुस्त रखने में दिलचस्पी है। लीजा बुद्ध की मुस्कान पर खुश है। रिचर्ड के लिए बौद्ध काल का इतिहास महत्वपूर्ण है। संवेदन शून्य होकर कोरे इतिहास का ज्ञान रखना उपनिवेशकों की स्वार्थपरता की निशानी है, दूसरी ओर इतिहास से अनजान होकर संवेदना से परिपूर्ण होना लीजा एवं उसकी मानसिकता वाले अन्य लोगों के लिए मानवता की सर्वोच्च उपलब्धि है। पर दूसरी ओर लीजा रिचर्ड की सुरक्षा की भी कामना करती है-

"तुम्हें तो कोई खतरा नहीं है ना रिचर्ड?"

"नहीं, लीजा। अगर प्रजा आपस में लड़े तो शासक को किस बात का खतरा है।

किसी भी उपनिवेशक के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रजा को लड़ते रहने पर मजबूर करे। प्रजा आपस में जितनी लड़ेगी, सत्ता की उम्र उतनी ही बढ़ेगी। इसी बात को कुछ अलग तरीके से रिचर्ड एक जगह कहता है— “डार्लिंग, हुकूमत करने वाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।” (45)

रिचर्ड की ये सारी उक्तियाँ हमें उपनिवेशकों की एक ही बात की ओर इशारा करती हैं और वह यह है कि वह हमें हरेक स्थिति में तोड़ना चाहते थे। अपनी इस साजिश में वे बहुत दूर तक सफल रहे।

उपन्यास की रचना प्रक्रिया के संबंध में भीष्म साहनी ने कहा है— “मेरा इरादा उस काल का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पेश करने का नहीं था, न ही कोई दस्तावेजी नॉवल लिखने का।... एक संकटपूर्ण स्थिति की पृष्ठभूमि में विभिन्न धर्मों, वर्गों, विचारधाराओं के लोगों की प्रतिक्रिया और उनके कारनामों ही दिखलाए गये हैं, इससे अधिक कुछ नहीं।” (पृ. 430)

इस युक्ति से भीष्म साहनी की विनम्रता एवं उनकी तटस्थता अवश्य प्रमाणित होती है परंतु जिस स्वाभाविकता के साथ लीज़ा एवं रिचर्ड तथा उपन्यास के अन्य छोटे पात्रों के संवाद बोले गये हैं उसकी यथार्थता उपन्यास को एक ‘दस्तावेजी नॉवल’ अवश्य बना देता है। उपनिवेशवादी षड्यंत्र एवं उसके घातक परिणामों की जानकारी करने के लिए यह उपन्यास अपने आप में बेजोड़ है।

‘तमस’ को पढ़ते एवं उपनिवेशवादी सोच तथा उसके दुष्परिणामों पर चिंतन करते हुए एडवर्ड सईद द्वारा लिखित ‘ओरियण्टलिज़म’ की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। ‘ओरियण्टलिज़म’ वास्तव में शक्तिहीनों और शक्ति सम्पन्नों के आपसी संबंधों का अध्ययन है जो यह साबित करता है कि शक्ति सम्पन्न पश्चिम ने पूर्व के साथ कितना अपमानजनक व्यवहार किया है। सईद लिखते हैं कि पश्चिम की दृष्टि में ‘पूर्व तर्क शून्य, पतित, बचकाना, अलग (प्रकार का) है और इस तरह पश्चिम तर्क युक्त, गुण सम्पन्न, प्रौढ़ और सामान्य है।’¹⁴ सईद के अनुसार पश्चिमी लेखन में यह

पौर्वत्यवादी दृष्टिकोण बराबर व्यक्त होता रहा है। भीष्म साहनी अंग्रेजी के ज्ञाता थे। अपने अंग्रेजी ज्ञान के द्वारा वे अंग्रेजी की मनोवृत्ति को, उनकी श्रेष्ठता ग्रंथि को अच्छी तरह पहचानते थे। यही कारण है कि ‘तमस’ उपन्यास में रिचर्ड एवं लीज़ा के बीच जो वार्तालाप होता है उसमें भारतीयों एवं भारतीय सभ्यता-संस्कृति का खुलकर मखौल उड़ाया गया है।

“तमस को पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे न आजादी का इतिहास पढ़ा जा रहा है, न बँटवारे का भूगोल, बल्कि पढ़ा जा रहा है नफरत का नागरिक शास्त्र, सियासत का समाजशास्त्र और हुकूमत का हैवानियत भरा हिंसा शास्त्र।”¹⁵ रिचर्ड की हैवानियत वहाँ और स्पष्ट हो जाती है जब वह उसी गाँव में पिकनिक मनाने की योजना बनाता है जहाँ तमाम औरतों ने कुएँ में कूदकर आत्महत्या कर ली थी। लीज़ा को यह नागवार गुजरता है, वह कहती है— “तुम कैसे जीव हो रिचर्ड, ऐसे स्थानों पर तुम नये-नये पक्षी देख सकते हो, लार्क पक्षी की आवाज सुन सकते हो?”

“इसमें कोई विशेष बात नहीं है लीज़ा। सिविल सर्विस हमें तटस्थ बना देती है। घटना के प्रति भावुक होने लगे तो प्रशासन एक दिन भी नहीं चल पायेगा।

“यदि 103 गाँव जल जायँ तो भी नहीं?”

‘तो भी नहीं,’ रिचर्ड ने तनिक रुककर कहा, यह मेरा देश नहीं है। न ही यह मेरे देश के लोग हैं।

लीज़ा रिचर्ड के चेहरे की ओर देखती रह गयी। लिखने जा रहे थे रिचर्ड इनकी नस्ल के बारे में। वही न?”

“किताब लिखना और बात है लीज़ा, उसका प्रशासन से क्या मतलब?”

भीष्म साहनी द्वारा बड़े ही स्वाभाविक एवं सहज रूप से लिखे गये ये संवाद उपनिवेशवादी सत्ता एवं संस्कृति की गहरी क्रूरता को सफलतापूर्वक रेखांकित करते हैं। अपने चरित्र में रिचर्ड ने भिन्न होते हुए भी लीज़ा उससे अप्रभावित नहीं रहती है। रिचर्ड से उसकी वैचारिक दूरी बढ़ने लगती है। वह एकाकी हो जाती है और बीयर पीने लगती है। कुछ कुछ वैसी ही हालत उसकी हो जाती है जो लेडी मेकबेथ की होती है। उपनिवेशवादी वर्चस्व उपनिवेशितों को तो अशांत, असुरक्षित करता ही है, स्वयं भी शांत एवं

सुरक्षित नहीं रह पाता। दूसरी ओर, उपनिवेशितों में अपना बौद्धिक आतंक इस कदर जमा देता है कि उपनिवेशित यह मानने को तैयार हो जाते हैं कि उपनिवेशक जो भी कर रहे हैं वह उचित ही है क्योंकि बौद्धिक दृष्टि से वे हमसे श्रेष्ठ हैं। 'तमस' में भीष्म साहनी ने इस तथ्य को बहुत ही बारीकी से रेखांकित किया है। उदाहरणस्वरूप सोहन सिंह और मीरदाद दोनों अपने संप्रदाय के लोगों को यह नहीं समझा पाते कि अंग्रेज ही उन्हें लड़ा रहे हैं। उल्टे लोग अंग्रेज को ही इंसाफ पसंद कहते हैं। इस प्रकार ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने हमें बौद्धिक रूप से भी विकलांग बना दिया है। उपनिवेशवाद के तहत पलता बौद्धिक साम्राज्यवाद तीसरी दुनिया के लोगों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है। 'तमस' उपन्यास द्वारा खड़े किये गये ये सवाल बहुत ही

महत्वपूर्ण हैं। बौद्धिक साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए जब तक हम विवेकपूर्ण ठोस नीति नहीं अपनायेंगे तब तक उससे मुक्ति संभव नहीं।

संदर्भ:

1. आधुनिक हिंदी उपन्यास, संपादक, भीष्म साहनी व अन्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृ. सं. 428।
2. आलोचना, अंक सत्रह-अठारह, राजकमल प्रकाशन, पृ. सं. 72।
3. आज का भारत, रजनी पामदत्त, पृ. सं. 462।
4. डिस्कवरी ऑफ इंडिया, जवाहर लाल नेहरू, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, पृ. सं. 382।
5. 'आलोचना, 2004, अंक सत्रह-अठारह, पृ. सं. 80।

संपर्क :

हिंदी विभाग, डिगबोई महिला महाविद्यालय
पो. डिगबोई, जिला-तिनसुकिया (असम)
पिन-786171, मो. 0945137624

हिंदी रंगमंच और बंगाल

रजनी रजक

बंगाल में मूल रूप से कलकत्ता में हिंदी साहित्य के अंतर्गत हिंदी नाटक और उसके मंचन का इतिहास लगभग एक सौ वर्ष से भी पुराना है। कलकत्ता वर्षों से हिंदी भाषा और साहित्य के विकास का गुरुत्वपूर्ण केन्द्र बना रहा है कारण हिंदी भाषा के प्रख्यात साहित्यकारों ने यहाँ रहकर साहित्य-सृजन किया, साथ ही हिंदी का प्रथम समाचार पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' सन् 1826 ई. में पं. जुगल किशोर जी के संपादन में प्रकाशित हुआ। यूँ तो बांग्ला साहित्य के अंतर्गत नाटक और उसका मंचन कई सौ वर्ष पहले से ही सभ्य बंगाली समाज और बंगाल की लोक संस्कृति में प्रचलित थी। ग्रामीण अंचलों में यह लोक नाट्य या 'जात्रा' के रूप में काफी चर्चित रही है। यहाँ हिंदी नाटकों का मंचन और उनकी समीक्षा बहुत कम ही किया जाता रहा है। हिंदी रंगमंच से जुड़ी संस्थाओं की कमी होने के बावजूद भी यहाँ नाट्य-मंचन या रंगमंच के क्षेत्र में जो भी कार्य हुए हैं, वे विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान समय में परिस्थिति बहुत बदली है। आज भी हिंदी नाटकों के मंचन के साथ-साथ उनकी समीक्षाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से हमें बहुत कम देखने को मिलती हैं। वर्तमान समय में कलकत्ता में प्रेम कपूर जी एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनकी नाट्य समीक्षा प्रायः नियमित रूप से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं जैसे 'जनसत्ता', 'प्रभात वार्ता', 'छपते-छपते' आदि में देखने को मिलती है।

कलकत्ता में 19वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही एक के बाद एक कई नाट्य मंचन संस्थाओं की स्थापना होने लगी थी। वैसे तो यहाँ भी अन्य प्रदेशों की तरह पारसी थियेटर के माध्यम से पारसी शैली में नाटक प्रस्तुत किया जाता रहा परन्तु यह केवल मनोरंजन व आय का साधन मात्र था। जिसका सामाजिक सरोकारों से गहरा संबंध नहीं था। बंगाल के फूलकटरा नामक स्थान में हिंदी नाटक या रंगमंच से जुड़ी संस्था की स्थापना सर्वप्रथम सन् 1905 में 'हिंदी नाट्य समिति' के रूप में हुई। इस समिति के एक मात्र कर्ता-धर्ता मुंशी भृगुनाथ वर्मा थे और साथ ही यह पहला गैर-व्यावसायिक प्रयास भी रहा था। उन दिनों कलकत्ता राजनीतिक गतिविधियों के मूल केन्द्रों में से एक था जिसके कारण नाटकों के विषय चयन में काफी समस्या उत्पन्न होती थी। अंग्रेज सरकार हर तरह की गतिविधियों पर कड़ी नजर रखा करती थी। राजनीति एवं देशभक्ति के विषय से जुड़ी नाटकों को प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं थी इसीलिए मूल नाटकों को अन्य नाम से प्रस्तुत किया जाता था ताकि उन्हें संदेह न हो। इस समिति ने सन् 1912 में पंडित माधव शुक्लजी के मार्गदर्शन में भारत संगीत समाज के मंच पर भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा लिखित 'नीलदेवी' नाटक का सफल मंचन प्रस्तुत किया। राधेश्याम कथावाचक की 'वीर

अभिमन्यु' नाटक का भी सफल मंचन हुआ। हुआ। कहा जाता है कि इस नाटक के प्रथम प्रदर्शन में ही इतनी अधिक धनराशि प्राप्त हुई कि उड़ीसा में आई बाढ़ के कारण पीड़ितों की सहायता हेतु चार हजार रुपये का योगदान किया गया। सन् 1920 में समिति के नाट्याध्यक्ष जमुनादास मेहरा ने 'भक्त प्रह्लाद' व 'पाप परिणाम' नाटकों का कई बार सफल मंचन किया। इनके अलावा समिति ने नाट्याध्यक्ष ज्ञानचंद कोकर के निर्देशन में 'सती पद्मिनी', 'सत्यविजय', 'पाण्डव विजय', 'भारत रमणी', 'सम्राट परीक्षित', आदि नाटकों को भी प्रस्तुत किया। इस संस्था के अंतर्गत नाटकों की प्रस्तुति पारसी शैली में की जाती थी जिसके कारण समिति वालों में मतभेद उत्पन्न होने के फलस्वरूप सन् 1939 के बाद यह संस्था और आगे नहीं बढ़ सकी परंतु लगभग तीस वर्षों में इसने कलकत्ता के हिंदी रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का पालन किया।

सन् 1913 के आस-पास हिंदी नाट्य समिति के सदस्य भोलानाथ वर्मन ने पंडित माधव शुक्ल जी के साथ मिलकर 'हिंदी नाट्य परिषद्' की स्थापना की। इन्होंने पारसी शैली का बिना अनुसरण किए एक अलग शैली का विकास कर विभिन्न विषयों पर नाटक प्रस्तुत करने की परिकल्पना की। उन्होंने नाटक मंचन के क्षेत्र में कई अलग तरह के काम किए और अप्रत्यक्ष रूप से नाटकों के माध्यम से हने हुए राजनीतिक स्वर को उभारने की प्रथम पहल की। उन दिनों मूलतः सामाजिक एवं धार्मिक मुद्दों पर ध्यान केंद्रित कर नाटक प्रस्तुत किया जाता था। उनमें भी नाटकों का मूल विषय धार्मिक ही हुआ करता था, साथ ही मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक मूल्यों आदि विषयों को ध्यान में रखकर ही नाटक का विषय चुना जाता था। परन्तु नाट्य परिषद् ने राष्ट्रीय भावनाओं और आंदोलन को बल प्रदान किया। जिसके कारण शुक्ल जी को जेल की यात्रा भी करनी पड़ी। अंग्रेजी सरकार ने कई नाटकों को प्रतिबंधित कर दिया था। वे नाटक के नाम से ही चिढ़ते थे जिसके कारण 'सेनापति अदल' (वृंदावन लाल वर्मा) व 'महाराणा प्रताप' (राधाकृष्ण दास) नाटक के मंचन की अनुमति नहीं दी गई। बांग्ला भाषा में लिखी दीनबंधु मित्र के 'नील दर्पण' नाटक को भी प्रतिबंधित किया गया। कारण ये सभी

नाटक देश प्रेम, देशभक्ति, देश के प्रति बलिदान से संबंधित थे और अंग्रेज सरकार नहीं चाहती थी कि आम लोग इन भावनाओं से उत्साहित हों और उनकी सत्ता पर कोई मुसीबत आए। देश की आजादी के विषय में कोई भी नाटक प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं थी। इसलिए देशभक्ति को अलग रूप में दर्शाया जाता था। अतः परिषद् वालों ने नाटकों के शीर्षक बदल दिए। इनके नाटक मंचन में 'भामाशाह की राजभक्ति' (राजभक्ति शब्द से अंग्रेज खुश होते थे।) और 'मेवाड़ पतन' नाटक 'विश्वप्रेम' नाम से मंचित हुआ। इनके अतिरिक्त भीष्म (मूल नाम भीष्म प्रतिज्ञा), 'चंद्रगुप्त' (जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित) आदि नाटक भी खेले गए। पं. माधव प्रसाद शुक्ल ने लगभग 20 वर्षों तक निःस्वार्थ भाव से हिंदी नाट्य परिषद् की सेवा की परंतु मतभेद होने के कारण 1936-37 के आस-पास हिंदी नाट्य परिषद् (नव संगठित) नाम से एक और नयी संस्था का गठन हुआ।

पं. देवदत्त मिश्र ने 1936 से 1940 तक हिंदी नाट्य परिषद् के उत्तरदायित्व को संभाला। उनके निर्देशन में 'शाहजहाँ', 'नूरजहाँ', 'उस पार', 'महात्मा ईसा' आदि नाटकों का मंचन हुआ। कहा जाता है कि 'शाहजहाँ' तथा 'उस पार' नाटक में भारतेन्दु नाट्य मंडली के विख्यात अभिनेताओं ने भाग लिया। हिंदी नाट्य परिषद् के साथ और कई बड़े-बड़े व्यक्तियों के नाम जुड़े, जिनमें राजनारायण चतुर्वेदी, शिवनाथ शुक्ल, हरिशंकर शर्मा, खादिम हुसैन खां (संगीत निर्देशक), अम्बाशंकर ठाकुर, गिरीश जोशी, बदरी प्रसाद तिवारी (जो नाटकों के निर्देशक हुआ करते थे), राजेन्द्र प्रसाद वर्मा, छेदी लाल गुप्त आदि चर्चित रहें। उन्होंने इस संस्था को हर तरह से अपना पूरा सहयोग दिया। उन दिनों छेदी लाल गुप्त कलकत्ता के हिंदी लेखकों में बहुत प्रसिद्ध थे। इनके अलावा 'विश्वमित्र' के संपादक मूलचंद अग्रवाल, 'आर्यावर्त' के संपादक श्रीकांत ठाकुर विद्यालंकार आदि ने भी अपना पूरा सहयोग दिया। सन् 1941 में परिषद् को ललित कुमार सिंह के रूप में एक नया नाट्याध्यक्ष मिला। इस संस्था ने 40 वर्षों तक सक्रिय रूप से कार्य किया। इस दौर में 'महानिशा' (पुनर्मिलन के नाम से भी), 'छत्रशाल', 'जय-चितौड़' (आहुति और

राजस्थान गौरव आदि नामों से), 'शिवसाधना', 'अंगूर की बेटी', 'गबन' आदि नाटकों का सफल मंचन हुआ। इसी दौर में सर्वप्रथम परिषद् ने महिला कलाकारों को नाट्य मंचन से जोड़ा। इससे पूर्व पुरुष अभिनेता ही स्त्री रूप में महिला चरित्र की भूमिका निभाते थे। महिला कलाकारों में सुभद्रा देवी, ममता मुखर्जी, गौरी राय, छंदा देवी, रेखा चटर्जी, कल्याणी राय, श्यामली चक्रवर्ती आदि प्रमुख हैं। 1944 से 1956 तक मंचित सभी नाटकों में इन अभिनेत्रियों ने कुशल अभिनय किया। इनमें से अधिकांश कलाकारों के बंगाली होने के कारण हिंदी नाटकों का बंगला रंगमंच के साथ संबंध जुड़ा। उन्होंने अंतिम बार प्रेमचंद के 'गबन' नाटक का मंचन किया और फिर यह संस्था हमेशा के लिए बंद हो गई परंतु नाटक मंचन के अलावा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम के लिए यह संस्था बाद के समय में भी सक्रिय रही। 1962 में मनोरमा देवी जो परिषद् की प्रथम महिला उपाध्यक्ष रहीं, एक सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में सामने आईं।

बाद के दिनों में परिषद् के ही कुछ सदस्यों ने मिलकर 'बजरंग परिषद्' और 'श्री कृष्ण परिषद्' जैसी नाट्य संस्था का गठन किया। 'बजरंग परिषद्' ने 'श्रवण कुमार', 'भक्त प्रह्लाद', 'सिंहनाद', 'भयंकर भूत', 'जख्मी पंजाब' आदि नाटकों को मंचित किया। 'श्री कृष्ण परिषद्' ने केवल कृष्ण-सुदामा नामक एक ही नाटक प्रस्तुत किया। 'अपर इंडिया एसोसिएशन' जो कलकत्ते के बड़ाबाजार का एक क्लब था, ने 'दुर्गादास', 'राजा हरिश्चंद्र', 'मधुर मिलन' नामक कई नाटकों का मंचन किया। सन् 1943 में 'बिरला क्लब' नामक एक नाट्य संस्था की स्थापना हुई, जो नाटकों के मंचन में 1943 से 1963 तक सक्रिय रही। इस संस्था द्वारा आयोजित नाटकों में सन् 1945 में 'मेवाड़ पतन', सन् 1949 में 'चंद्रगुप्त', सन् 1952 में 'महात्मा ईसा' सन् 1954 में 'वीर दुर्गादास', सन् 1964 में 'रूपया बोलता है' आदि विशेष रूप से सक्रिय रहे। इनके अलावा 'मिनर्वा', 'कालिका', 'कोरिंथियन', 'विश्वरूपा' आदि नाटक भी मंचस्थ हुए। इसके बाद यह संस्था भी बंद हो गई। उन दिनों नाटकों में स्त्री पात्रों की भूमिका मूलतः पुरुष कलाकार ही निभाते थे, हिंदी भाषा-भाषी महिलाओं के लिए नाटक-मंचन में भाग लेना अपमान जनक कार्य था

क्योंकि ऐसा करने से उनके परिवार की समाज में मान-प्रतिष्ठा घटती इसलिए कुछ बंगाली महिलाएं ही अभिनय किया करती थीं। हिंदी भाषा-भाषी समाज के स्त्रियों के नाटक से जुड़ने को अपमानजनक मानता था। परन्तु सन् 1947 में तरुण संघ ने प्रारंभ से ही स्त्रियों को नाटक मंचन से जोड़ कर रखा। उन्होंने अपने परिवार की स्त्रियों को रंगमंच में शामिल किया। बंगाल के सभ्य और शिक्षित परिवार व्यापक स्तर पर सन् 1948 के बाद ही रंगमंच से जुड़े। तरुण संघ ने सर्वप्रथम आधुनिक व समसामयिक विषयों से संबंधित नाटकों का मंचन शुरू किया जिसमें उपेन्द्रनाथ अश्क, धर्मवीर भारती, विष्णु प्रभाकर, जगदीश चंद्र माथुर, तरुण राय जैसे विख्यात नाटककारों के नाटक का मंचन किया गया। इसके बाद राजेंद्र शर्मा ने 'भारत-भारती' नामक नाट्य संस्था की सन् 1952 के आस-पास स्थापना की। इस संस्था ने 'डाउन ट्रेन' नामक नाटक मंचन के लिए द्वितीय 'जानकी मंगल' पुरस्कार प्राप्त किया। बाद में इन्होंने साधारण और हल्के-फुल्के नाटकों का ही मंचन किया। बाद के दिनों में इन्होंने संगीत कला मंदिर से जुड़कर नाटक मंचन किया।

सन् 1953 के 22 दिसम्बर को नाटकों की सबसे गंभीर संस्था 'अनामिका' की स्थापना हुई और इसने काफी समय तक रंगमंच की सेवा की। इसने मूलरूप से सन् 1979 तक रंगमंच का कार्यभार संभाला और लगभग पचास नाटक, बारह एकांकी, कई बाल नाटक व एक नृत्य नाटक (कामायनी) का मंचन किया। इसके संस्थापकों में बहुत सारे व्यक्ति थे, जैसे मन्नू भंडारी, भैरमल सिंघी, विष्णुकांत शास्त्री, बदरी प्रसाद तिवारी, श्यामानंद जालान, प्रतिभा अग्रवाल, विमल लाठ व तरुण संघ के कुछ सदस्य। मराठी के प्रसिद्ध रचनाकार शिव कुमार जोशी भी इस संस्था से जुड़े रहें। अनामिका द्वारा मंचस्थ नाटकों में 'घर और बाहर' (प्रतिभा अग्रवाल द्वारा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बहुचर्चित उपन्यास 'घर-बाहरे' का हिंदी नाट्य रूपान्तर), विनोद रस्तोगी के 'नये हाथ', मोहन राकेश के 'लहरों का राजहंस', 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'आधे-अधूरे' एवं बादल सरकार का 'पगला घोड़ा' व 'इंद्रजीत' नाटक बहुचर्चित रहा। इसके अलावा और भी बहुत सारे नाटकों

का सफल मंचन हुआ। प्रतिभा अग्रवाल ने नाट्य रूपांतरण व अनुवाद के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अनामिका ने 'नाट्यवार्ता' (अक्टूबर, 1976) नामक एक मासिक पत्रिका भी छापना शुरू किया जिसमें नाटक व मंचन संबंधी चर्चाएँ हुआ करती थीं।

सन् 1963 से 'संगीत कला मंदिर' नामक एक और संस्था ने जन्म लिया। जिसने 'मृच्छकटिक', 'एक प्याला कॉफी', 'किसी एक फल का नाम लो', 'एक और द्रोणाचार्य' जैसे सफल नाटकों का मंचन किया। सन् 1978 तक संगीत कला मंदिर ने मंचन का कार्य संभाला। सन् 1966 में 'अदाकार' की स्थापना हुई जो सन् 1978 के आस-पास तक चली। इस संस्था ने भी पचास से अधिक नाटकों का मंचन किया जिनमें 'भूचाल', 'खामोश', 'अदालत जारी है', 'रिश्ते-नाते' बहुत दिनों बाद भी चर्चित रहें। 'पदातिक' नामक संस्था ने भी 'रंगकर्मी' के समानान्तर नाटकों का मंचन किया। श्यामानंद जालान ने 'पदातिक' की स्थापना 1972 में की। इस संस्था ने प्रयोगशील नाटकों का मंचन किया। श्यामानंद जालान को नाटकों का महान 'शो मैन' कहा जाता था। 'पदातिक' ने कई विदेशी नाट्यकारों जैसे सैमुअल बैकेट, मॉलियर, इब्सन आदि एवं मोहन राकेश, बादल सरकार, महाश्वेता देवी, निर्मल वर्मा, विजय तेंदुलकर जैसे भारतीय नाट्यकारों की नाटकों का सफल मंचन किया। विजय शर्मा, प्रदीप राय, चेतना जालान आदि इस संस्था को चला रहे हैं।

ऊषा गांगुली ने सन् 1976 में 'रंगकर्मी' की स्थापना की। उन्होंने प्रारंभ में हिंदी नाटकों तथा बाद में बांग्ला नाटकों का भी मंचन किया। बंगाल में हिंदी नाटकों के ही कार्य-पद्धति का अनुसरण किया, उसकी हाथ पकड़कर आगे बढ़ी वह प्रायः उसके समकक्ष है, साथ ही कहीं-कहीं उससे भी आगे है। हिंदी नाटक एवं रंगमंच वालों ने बांग्ला नाटकों एवं रंगकर्मियों से ही पेशेवरी सीखी। 'रंगकर्मी' ने ढेर सारे नाटकों का मंचन किया और आज भी इस क्षेत्र में सक्रिय है। इस संस्था ने 'महाभोज', 'लोककथा', 'होली',

कोर्ट मार्शल', 'वामा', 'रूदाली', 'खोज', 'बेटी आई', 'शोभा यात्रा', 'काशीनामा' आदि नाटकों की सफल प्रस्तुति की। उषा गांगुली एक सफल निर्देशिका के साथ एक प्रसिद्ध अभिनेत्री व संगीतज्ञ भी हैं। उन्होंने नाटकों में संगीत को भी स्थान दिया। आज भी 'रंगकर्मी' की नयी पीढ़ी मंच पर अपनी सक्रियता दिखा रहे हैं।

रंगमंच की दुनिया में महेश जायसवाल एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से समाज की कई तरह के कुसंस्कारों पर प्रश्नचिह्न लगाया है। प्रताप जायसवाल की 'अभिनय' ने भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। इसने 'ध्रुवस्वामिनी', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'रावनलीला' जैसी नाटकों का मंचन किया। इसके बाद सन् 1989 ई. में 'लिटिल थेस्पियन' की स्थापना हुई। उमा झुनझुनवाला ने बांग्ला साहित्यकार मनोज मित्रा की नाटक 'अलका' का हिंदी में मंचन किया, जो बांग्ला की अपेक्षा हिंदी में ज्यादा चर्चित रही। वह आज भी सक्रिय रूप से नाट्य-मंचन से जुड़ी हुई हैं, साथ ही नाटक मंचन में नए-नए परीक्षण भी कर रही हैं। इनके अलावा कलकत्ता में और कई रंगमंच की संस्थाएँ मौजूद हैं। प्रताप जायसवाल की 'अभिनय' शाहजहाँ खॉं की 'कलाप्रेमी', रेणु राय की 'स्पंदन', अशोक सिंह की 'द अल्टीमेट थियेटर', शिवकुमार झुनझुनवाला की 'प्रोसेनियम', दिनेश वडेरा की 'मुद्राआर्दस', आदि कई छोटी पर प्रमुख संस्थाएँ निरंतर इस क्षेत्र में प्रयास किए जा रही हैं। महमूद आलम, रतन थियेम्, भोपाल के पियूष मिश्रा आदि प्रसिद्ध नाटक निर्देशकों में से एक हैं जो वर्तमान समय में हिंदी साहित्य की इस विधा को रंगमंच से जोड़कर रखने में अपनी अहम भूमिका का पालन कर रहे हैं। इन संस्थाओं का रंगमंच से जुड़े क्रिया-कलापों से यह बात तो अवश्य प्रमाणित होती है कि बंगाल में विशेषकर कलकत्ता में आज भी असंख्य रंगमंच प्रेमी उपलब्ध हैं जो दर्शक के साथ-साथ जागरूक, तार्किक, बुद्धिजीवी व्यक्ति होने के कारण कुशल आलोचक की भी भूमिका निभाते रहते हैं।

संपर्क:

ईश्वर दयाल नगर, ग्वाला पारा रोड, गारुलिया- 743 133
उत्तर 24 परगना, पश्चिम बंगाल, मो. 9836367145

राहुल सांकृत्यायन दर्शन, इतिहास और आत्मकथा की समस्याएँ प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी

हिंदी के विकास में जिन महापुरुषों का महान योगदान है उनमें राहुल सांकृत्यायन प्रमुख हैं। नामवर सिंह ने अपने तरीके से उनको याद किया है और उनके बारे में जो बातें कही हैं वे काफी मूल्यवान हैं। उन्होंने उनकी तीन विशेषताएँ बतायी हैं, प्रथम पुनर्जन्म की धारणा में अविश्वास, दूसरा निरंतर कर्म की धारणा में गहरी आस्था, तीसरा वे कभी उत्तेजित नहीं होते थे, हमेशा शांत, धीर और सहज बने रहते थे। इसी प्रसंग में राहुल की किताब 'मेरी जीवन यात्रा' के आरंभ में उद्धृत बुद्ध वचन का नामवर सिंह ने जिक्र किया है। वचन इस प्रकार है- *“कुल्लुपमं देसेस्यामि वो भिक्खवे धम्मं/ तरणत्थाय नो गृहणत्थाय।”* अर्थात् “हे भिक्षुओं! यह धर्म मैं छोटी सी नाव के समान दे रहा हूँ पार उतरने के लिए। पार उतरने के बाद, सिर पर रखकर ढोने के लिए नहीं।” नामवर जी ने इस पर लिखा ‘अपने विचारों के बारे में हम लोगों को कितना आग्रह-दुराग्रह होता है। बुद्ध सिर्फ इसलिए बड़े थे कि उन्होंने उतना बड़ा क्रांतिकारी धर्म दिया। सद्-धर्म दिया बुद्ध ने। यह ‘सद्-धर्म’ उस नाव के समान है जिस नाव के द्वारा, नदी पार की, उसे वहीं छोड़ दिया। यह नहीं कि पार गए, रेती पर आप चल रहे हैं फिर भी, उस भारी नाव को सिर पर उठाये, दबे हुए चले जा रहे हैं कि फिर हम इसका इस्तेमाल करेंगे। उन्होंने कहा छोड़ दो इसे। जब सब कुछ क्षणिक है तो यह धर्म ही कौन अमरत्व पीकर आया है। इसे भी छोड़ दो। जिस हद तक काम आ जाए, इस्तेमाल करो। काम जब न आए, छोड़ दो उसका। जो बेहतर चीज हो, उसे ले लो।’ (आलोचना और विचारधारा, पृ. 260-61)

राहुल पर विचार करते समय हमें व्यापक फलक रखकर सोचना होगा, उन्होंने जिस तरह का काम किया है उसके बारे में सीमित दायरे में सोचने से बचना होगा। नामवर जी ने ‘बोल्गा से गंगा’, ‘कनैला की कथा’ को पढ़ने पर जोर दिया और लिखा कि इन दोनों किताबों से सहज ही राहुल समझ में आ सकते हैं, साथ ही उन्होंने लिखा है, “लेकिन उस पांडित्य की सहजता देखनी हो और उनके विचारों को समझना हो तो उसके लिए मैं आपसे निवेदन करूँगा कि केवल दो ही ग्रंथ पढ़ें।’ ये दो ग्रंथ हैं ‘बोल्गा से गंगा’ और ‘कनैला की कथा’। हम कहना चाहते हैं कि विश्व की रूपरेखा 2. मानव समाज 3. दर्शन-दिग्दर्शन 4. वैज्ञानिक भौतिकवाद 5. कनैला की कथा 6. बोल्गा से गंगा 7. भागो नहीं दुनिया को बदलो, इन किताबों को भी कायदे से पढ़ना चाहिए।

इसके अलावा जिस तरह जीवनी साहित्य और आत्मकथा साहित्य सामने आया है उसकी ओर भी ध्यान देने की जरूरत है। राहुल ने कई बड़ी विभूतियों की जीवनी और अपनी आत्मकथा लिखकर जो पैमाना इस विधा का बनाया है उसे भी समझने की जरूरत है।

नामवर जी ने रेखांकित किया है, ‘निरंतर गतिशीलता और खुलापन सिर्फ एक बुद्धिजीवी-

विचारक-लेखक के लिए ही नहीं, साधारण जन के लिए भी जरूरी है। साधारण जन को राहुल जी ने यही संदेश दिया था।' (वही, पृ. 262) नामवर जी ने राहुल के बहाने कई मूल्यवान् बातों का जिक्र किया है, उन्होंने लिखा है, 'हमारे यहाँ माना जाता है कि आप बात क्या कहते हैं, जितनी महत्वपूर्ण है उससे ज्यादा महत्वपूर्ण है कि बात कौन कह रहा है? वह अधिकारी है या नहीं? हमारे यहाँ उस अधिकारी का बहुत महत्व है।' (पृ. 265)

नामवर सिंह ने राहुल जी पर विचार करते समय जिन बातों को मूल रूप से रेखांकित किया है उनमें सबसे महत्वपूर्ण बात है अपने अतीत, अपने धर्म के अतीत, अपने परिवार के अतीत और अपने गाँव के अतीत के प्रति आलोचनात्मक विवेक। यह विवेक उनके लेखन में उभरकर सामने आया है। नामवर जी ने इस नजरिए पर लिखा कि 'सत्य कथन भले ही हमारे विरुद्ध जाए, लेकिन हम सच ही बोलेंगे। झूठ नहीं बोलेंगे। राहुल जी की यह सत्यनिष्ठा थी जिसने कनैला गाँव की कथा लिखते हुए सच बताया।'

'कनैला गाँव की कथा' के बहाने गाँव के इतिहास, परंपरा, संस्कृतिबोध और उदात्त मानवीय पहलुओं को उजागर किया। नामवरजी ने इस कृति का मूल्यांकन करते हुए लिखा, 'राहुल जी का कहना था कि हर गाँव अपना ही परम्परा देखे।'

राहुलजी ने 'कनैला की कथा' (1957) में विभिन्न कहानियों के जरिए सामाजिक इतिहास के उप पहलुओं पर रोशनी डाली है जिनको हम भूल गए हैं या अप्रासंगिक मानते हैं या जिन परंपराओं पर आए दिन हमले करते रहते हैं। खासकर बीसवीं सदी में मिश्रित संस्कृति, मिश्रित समाज और मिश्रित भाषा को विभिन्न तरीकों से निशाना बनाया गया। इन पर पुनरुत्थानवादियों से लेकर फंडामेंटलिस्टों के हमले हुए हैं। इस कृति की सभी कहानियों के केन्द्र में मिश्रित समाज और बहुलतावाद को बचाने का लक्ष्य प्रमुख रूप से व्यक्त हुआ है। इस कृति के प्राक्कथन में राहुल जी ने लिखा, 'सत्य कल्पना से भी अधिक सुंदर होता है।' यही वह प्रस्थान बिंदु है जहाँ से वे चीजें देखते हैं। वे कथा-साहित्य की कल्पना के साथ-साथ सत्य को बताने

के लिए इस्तेमाल करते हैं। उनके लिए सत्य महत्वपूर्ण है। 'त्रिवेणी' कहानी में लिखा, 'भूमि पर पहले आने से कोई सदा के लिए अपना अधिकार कायम नहीं रख सकता। अधिकार का फैसला हथियार करता है।' (कनैला की कथा, पृ. 5) हथियारों के बल पर किरातों को निषाद हरा देते हैं और उनके पशुधन और अन्य चीजों पर कब्जा कर लेते हैं।

नामवर जी ने सही लिखा है 'राहुल के विचारों या उनकी किताबों से ज्यादा महत्वपूर्ण है- राहुल का जीवन, जीवन-यात्रा, जीवन-संघर्ष।' (पृ. 276) नामवर जी ने आधुनिकता के प्रसंग में राहुल जी के लेखन का विश्लेषण करते हुए कई महत्वपूर्ण सवाल उठाए हैं। लिखा है, 'आजकल परम्परा बनाम आधुनिकता पर बहुत बहस होती है और ज्यादातर वे आधुनिकतावादी होते हैं, जिनका परम्परा से ठीक-ठाक परिचय तक नहीं है, फिर भी सबसे ज्यादा परंपरा के विरुद्ध मुखर वे ही दिखाई पड़ते हैं। किन्तु हमारी एक परंपरा रही है जिसमें राहुल जी आते हैं।'

'राहुलजी उन लोगों में थे जिनकी जड़ें परम्परा में गहरी थीं, इसलिए उनके लिए संभव हो सका, जिसे हम विद्रोह कहते हैं। वह उस परंपरा के भीतर से पैदा हुआ। विद्रोह और विरोध के द्वारा ही उन्होंने परम्परा का पुनर्गठन किया। पूरे सम्मान के साथ, सादर के साथ, श्रद्धा के साथ। यही वजह है उनकी वाणी में शक्ति थी।'

नामवर जी ने सही लिखा है, 'आधुनिक हिंदी कविता में नीत्से की सुनी-सुनायी बातों के आधार पर बहुत से लोग इसकी चर्चा करते हैं कि ईश्वर मर गया। जिसने ईश्वर का जीना नहीं जाना, वह ईश्वर के मरने की पीड़ा भी नहीं समझ सकता। उसी तरह जिसने परंपरा को नहीं जाना, वह परंपरा के विरुद्ध एक खोखली आवाज उठाता है, तो उसका कोई अर्थ नहीं। इसलिए राहुलजी का विद्रोह परंपरा के भीतर से था और वे स्वतंत्र बुद्धि को प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। उस स्वतंत्र बुद्धि को प्राप्त करने में राहुल ने निर्ममता के साथ अपना मूर्तिभंजन भी किया है।'

राहुल जी का नजरिया पूरी तरह से लोकतांत्रिक था इसलिए उन्होंने समानता और न्याय में न्याय को चुना। नामवर जी ने लिखा है, 'आगे जाने के लिए, जब वे 'जय सौधेय' और 'भागो नहीं, (दुनिया) बदलो' लिख रहे थे,

तो उस सूत्र को कभी भूले नहीं, जिसका उल्लेख उसी 'जीवनयात्रा' में किया है, "हमें इस समाज को बदलकर ऐसे समाज की स्थापना करनी है जिसका आधार न्याय और भ्रातृभाव है।" किसी दर्शन से उन्होंने कलेश या कलीश या जार्जन शब्दजाल नहीं लिया। उन्होंने कहा- सामाजिक-न्याय, राजनीतिक-न्याय, आर्थिक-न्याय, न्याय के अनेक रूप हैं। इसलिए ध्यान दें कि राहुलजी ने इसमें कहीं भी समानता का जिक्र नहीं किया है। नामवर जी ने लिखा, 'राहुलजी ने बेहतर बनाने का जो मूल आधार रखा था उसमें एक है न्याय और दूसरा है भ्रातृभाव प्रवृत्ति। ऐसी बात वह कह सकता था, जो आदमी स्वतंत्रचेता हो। स्वतंत्रता ही इन तमाम चीजों की नींव है- बुनियाद है। मोटे तौर से राहुलजी फ्रांसीसी क्रांति का जो मूल दर्शन था, विचार था, उस भाषा में बात करते थे, लोक सामान्य, लोक-समझ, साम्यवादी भाषा में बात करते थे।'

राहुलजी का मूल्यांकन करते हुए नामवरजी ने बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू की ओर ध्यान खींचा है और यह पहलू अब तक सभी की आँखों से ओझल रहा है। नामवर जी ने लिखा है कि सरहपा के विवेचन और उद्घाटन के क्रम में राहुलजी ने विद्रोह पर नहीं करुणा को रेखांकित किया है। सरहपा के नजरिए की धुरी है करुणा। नामवर जी के अनुसार, 'राहुल जी के समस्त साहित्य में देखें, जो आदमी न्याय और भ्रातृभाव के लिए संघर्ष कर रहा है, उस मनुष्य के हृदय में अगाध करुणा थी। लेकिन दुश्मनों के लिए नहीं थी। उसके लिए घृणा थी, क्रोध था। वह करुणा थी साधारण जनों के लिए, उनके उद्धार के लिए, उनकी मुक्ति के लिए, उनके उत्थान के लिए। इसलिए 'भागो नहीं, (दुनिया) बदलो' यह नारा अन्ततः उस मानवीय करुणा में परिणत होता है, जिस करुणा के बिना किसी भी प्रकार का विद्रोह, किसी भी प्रकार की क्रांति बंध्या होती है, बंजर होती है, शुष्क होती है, क्योंकि वह अमानवीय होती है, अमानुषिक होती है।'

नामवरजी ने सही रेखांकित किया है कि राहुल ने 19वीं सदी के नवजागरण में बौद्ध आयाम जोड़ा। करुणा को जोड़ा। 'करुणा केवल आँसू बहाने वाली नहीं है- न अपने पर, न पराए पर। बल्कि यह वह करुणा है जिसका

गहरा सूत्र वाल्मीकि के उस श्लोक से जुड़ा हुआ है:

मा निषाद प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शास्वती समाः।

यत्क्रौंच मिथुनादेक अवधिः काम मोहितम्॥

दार्शनिक दृष्टिकोण के सवाल- राहुल सांकृत्यायन के दार्शनिक नजरिए के बारे में हिंदी में कभी कोई गंभीर विमर्श सामने नहीं आया, जबकि उन्होंने 'दर्शन दिग्दर्शन' जैसी महत्वपूर्ण कृति लिखी। यह कृति 1942 में हजारीबाग के सेंट्रल जेल में लिखी और 1944 में इसका पहला संस्करण प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक का मार्क्सवादी दार्शनिक नजरिए से कोई संबंध नहीं है। इसमें उन्होंने अध्ययन की जो प्रणाली चुनी है उसका तरीका कुछ इस प्रकार है- दार्शनिक के जीवन का संक्षिप्त परिचय, उसके मूल विचारों का उल्लेख और कहीं-कहीं उन पर आलोचनात्मक तौर पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ, इस तरह यह किताब विभिन्न दर्शनों का ब्यौरेवार लेखा-जोखा है। इस तरह की पद्धति कहीं से न तो ऐतिहासिक है और न ही द्वंद्वात्मक है। इस कृति की मूल्यवान समझ यह है कि इसमें दर्शन को धर्म से पृथक् करके विवेचित किया गया है। साथ ही दर्शन और विज्ञान के संबंधों, दर्शन और सामाजिक वर्गों के संबंधों का संक्षिप्त में जिक्र भी मिलता है। इसके अलावा दर्शन को वे राष्ट्रीयता की बजाय विश्व परिप्रेक्ष्य में रखकर विवेचित करते हैं।

इस कृति का महत्व यह है कि इसमें राहुल ने प्रच्छन्नतः हेगेल के नजरिए को चुनौती दी है। हेगेल का मानना था कि पूर्वी देशों में दर्शन और धर्म में सहमेले है। राहुल सांकृत्यायन इस नजरिए को एक सिरे से खारिज करते हैं। यही हाल सर्वपल्ली राधाकृष्णन का था उन्होंने 'भारत में दर्शन' नामक कृति में दर्शन को आध्यात्मिकता से जोड़ा है। एम हिरियन्ना ने 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' में इसी पर विचार करते हुए लिखा, 'भारतीय दर्शन का लक्ष्य तर्क से परे पहुँचना है।' वे दर्शन को 'विचार प्रणाली' न मानकर 'जीवन प्रणाली' मानते हैं। इसके अलावा अनेक विचरकों ने भारतीय दार्शनिक प्रणाली को अपरिवर्तनीय माना है। यह भी माना कि भारत में तो अपरिवर्तनीय विचार परंपरा रही है। राहुल सांकृत्यायन ने इस नजरिए का 'दर्शन-दिग्दर्शन' में खंडन किया है। इसी तरह साम्प्रदायिक और पुनरुत्थानवादी ताकतें भारतीय दर्शन की श्रेष्ठता, शुद्धता

एवं अपरिवर्तनीयता पर बार-बार जोर देती हैं। उनका भी इस कृति में खंडन मिलता है। इसके अलावा भारत में दर्शन की भाववादी व्याख्या करने वालों की भी लंबी सूची है। इसका भी इस कृति में जगह-जगह खंडन मिलता है। पर, वर्णन अधिकतर आदर्शवादियों का ही किया है।

आज हम भारतीय दर्शन की परंपरा का मूल्यांकन करते हैं तो सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि दर्शन की कौन सी धारणा हमारे लिए प्रासंगिक है। खासकर धर्मनिरपेक्षता, बुद्धिवाद और विज्ञानोन्मुख दृष्टिकोण के निर्माण में दार्शनिक परंपरा के कौन से तत्त्व आज भी हमारी मदद कर सकते हैं। इस प्रश्न को राहुल सीधे संबोधित नहीं करते। कौटिल्य के अनुसार वास्तविक दर्शन को 'आन्वीक्षिकी' कहते हैं। इसका अर्थ है कि दर्शन तर्कबुद्धि से संबद्ध है, वह बुद्धिसंगत विश्लेषण के लिए प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा प्रस्तुत आधार सामग्री को ही स्वीकार करता है। कौटिल्य के यहाँ वास्तविक दर्शन की दूसरी पहचान है धर्म निरपेक्षता। वे मानते हैं कि दर्शन ब्रह्मविज्ञान में नहीं है। वह धर्मशास्त्र अथवा वेदज्ञान नहीं है। वह पूर्णरूपेण ज्ञान की एक स्वायत्त शाखा है। दर्शन की शाखा में कौटिल्य ने सांख्य, योग और लोकायत को रखा है। पर बौद्ध, जैनमत, वेदांत, और मीमांसा पर वे चुप हैं।

राहुलजी ने जब धर्म और दर्शन में पार्थक्य स्थापित किया था तो सीधे भारतीय समाज में प्रचलित दार्शनिक प्रतिक्रियावाद को चुनौती दी। दर्शन और धर्म में पार्थक्य का कारण यह है कि दर्शन अपनी संज्ञानात्मक क्रिया में, अर्थात् यथार्थ रूप में वह सदैव विश्व के साथ समावेशन के साथ जुड़ा हुआ है। विश्व के वैचारिक समावेशन से आशय है प्रकृति, समाज एवं चिंतन के वस्तुगत संज्ञान तथा ऐसे संज्ञान पर आधारित सिद्धांतों का निर्माण करना। इसी तरह सिद्धांत सामान्यीकृत अनुभव है, मनुष्य का सामान्यीकृत व्यवहार तथा उत्पादन का व्यवहार सामाजिक-ऐतिहासिक गतिविधि है।

'दर्शन-दिग्दर्शन' का मूल लक्ष्य है आधुनिककाल में मध्ययुगीनता के खिलाफ हस्तक्षेप करना। मध्ययुगीन भावबोध के मानने वाले बुद्धि को विश्वास के मातहत करके देखते हैं। उनके लिए बुद्धि से ज्यादा महत्वपूर्ण है विश्वास या

आस्था। इसके विपरीत राहुल ने इस कृति में बुद्धि को आस्था से पृथक् करके पेश किया है। दर्शन को धर्म से मुक्त किया है। वे दार्शनिक गलतियों को ज्ञानमीमांसीय परिघटना के रूप में देखते हैं। वे दार्शनिक गलतियों को दर्ज करने के साथ-साथ गलती की ऐतिहासिक रूप से अनित्य आवश्यकता, उसकी ज्ञानमीमांसीय जड़ों और वास्तविक अंतर्वस्तु के अध्ययन की पूर्वकल्पना को पेश करते हैं।

'दर्शन-दिग्दर्शन' से हमें राहुल सांकृत्यायन की भारतीय दर्शन परंपरा की अधूरी समझ का पता चलता है। मसलन्, जिसे हम दर्शन कहते हैं, वह वैदिक काल में दिखलाई नहीं पड़ता। उनके यहाँ दर्शन की परंपरा उपनिषद् काल से प्रारंभ होती है और शंकर तक आकर खत्म हो जाती है। जबकि यह परंपरा नव्य-न्यायकाल तक जारी रहती है। यानी नव्य न्यायकाल के प्रतिनिधि गदाधर और उसके टीकाकारों तक यह परंपरा सत्रहवीं और 18वीं सदी के पूर्वाद्ध तक जारी रहती है। उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन परंपरा में राहुल ने श्रीमद्भगवद्गीता का जिक्र तक नहीं किया है। इसी तरह विशिष्टाद्वैत और द्वैत, शैव और शाक्त दर्शन, ऐकेश्वरवादी दर्शन और भक्ति आंदोलन के दार्शनिक चिंतकों का जिक्र तक नहीं करते। जबकि उपनिषदों, चार्वाक, गौतमबुद्ध, अजितकेशकंबल, मक्खलिगोशाल, काश्यप, प्रकुध कात्यायन, वेलाट्टिपुत्त, वर्धमान महावीर, कपिल, नागसेन, कणाद, गौतम अक्षपाद, जैनधर्म, पतंजलि, जैमिनी, बादरायण, असंग, धर्मकीर्ति, दिङ्नाग, नागसेन, गौडपाद एवं शंकर के दार्शनिक मत का विवेचन किया है। वेदांत के भाष्यकारों में वे शंकर के दार्शनिक मत का विवेचन करते हैं। वेदांत के भाष्यकारों में वे शंकर, रामानुजीय, निम्बार्क, माध्व, राधाबल्लभी सम्प्रदायों एवं भाष्यकारों का मात्र नामोल्लेख भर करते हैं। इस तरह की प्रस्तुति में अनेक असुविधाएँ हैं। मसलन्, वेदांत की ये प्रणालियाँ-रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत, माध्व का द्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत और बल्लभचार्य का शुद्धाद्वैत- ब्रह्म को ही इस जगत का अंतिम कारण मानती हैं। ये सभी आदर्शवादी दार्शनिक प्रणालियाँ हैं। किंतु शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित दर्शन की आदर्शवादी प्रणाली से ये मूलतः भिन्न हैं। इन

सभी प्रणालियों का उदय शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत-जिसमें केवल ब्रह्म को यथार्थ माना गया था- के विरोध में हुआ। दूसरे शब्दों में शंकराचार्य का अद्वैत वेदांत जहाँ मनोवादी आदर्शवाद है, वहाँ ये सभी प्रणालियाँ वस्तुवादी आदर्शवाद पर आधारित हैं। इसके अलावा बौद्धदर्शन के पतन के संदर्भ में तंत्र की भूमिका को भी राहुलजी ने रेखांकित नहीं किया।

इसी तरह 'दर्शन-दिग्दर्शन' में यूरोपीय परंपरा के विवेचन में भी काफी बड़ा असंतुलन है। मसलन, वहाँ पर सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिकों का विवरण दिया है। इसमें पूर्व की परंपरा का कोई विवरण नहीं है। भारतीय दर्शन मध्यकाल के आगे नहीं बढ़ता वहीं पर यूरोपीय दर्शन में 17वीं शताब्दी के पहले का जिक्र नहीं है। यूरोपीय दर्शन परंपरा के विवरण में भी राहुल ने सुसंगत नजरिए का परिचय नहीं दिया है। मसलन, देकार्त पर उन्होंने लिखा है 'द-कार्त पूरा लोकोत्तरवादी, ईश्वर के इशारे पर जड़-चेतन को नचाने वाला मानता था...' गंभीर विचारक होते हुए भी देकार्त मध्ययुगीन मानसिक बंधनों से अपने को आजाद नहीं कर सका था।' और अपने दर्शन को सर्वप्रिय रखने के लिए भी वह धर्मवादियों का कोपभाजन नहीं बनना चाहता था। स्वयं देकार्त के अपने वर्ग का स्वार्थ इसी में था कि धर्म और उसके साथ प्राचीन समाज व्यवस्था को न छेड़ा जाए' राहुल सांकृत्यायन की इस धारणा का खंडन देकार्त की मुख्य कृतियों "विधि के विषय में तर्कणा" (1637) और 'दर्शन के सिद्धांत' (1644) से होता है। वह तर्क बुद्धिवाद का प्रणेता था। उसने प्रकृति के बारे में भौतिकवादी मत प्रतिपादित किया, प्रकृति के विकास के सिद्धांत, भौतिक शरीर क्रिया विज्ञान एवं उनकी यंत्रवादी विधि की धर्मशास्त्र से शत्रुता थी उसने नए युग के भौतिकवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। यांत्रिकी के क्षेत्र में उसने गति और अविचलता की सापेक्षता लक्षित की, क्रिया और प्रतिक्रिया के सामान्य नियम को निरूपित किया। ब्रह्ममाण्डोत्पत्ति के क्षेत्र में सौरमंडल के नैसर्गिक विकास का विचार दिया, जो विज्ञान के लिए नया था। गणित के क्षेत्र में वह विश्लेषणात्मक ज्यामिति के प्रवर्तकों में से एक है। वह मानता था कि कणों की भ्रमित गति अन्तरिक्षीय

भूतद्रव्य की गति का मुख्य रूप है, जो संसार की संरचना तथा आकाशीय पिण्डों की उत्पत्ति निर्धारित करती है। उसकी प्राक्कल्पना ने प्रकृति की द्वंद्वात्मक समझ की प्रेरणा दी। हालांकि वह इसे यांत्रिक ढंग से ही समझता था। देकार्त का भौतिकवादी शरीर क्रिया विज्ञान अभौतिक आत्मा विषयक उसके दृष्टिकोण के विपरीत है। राहुल सांकृत्यायन ने देकार्त की इन मूलभूत बातों की मूल्यांकन करते हुए उपेक्षा की है। बेकन और देकार्त को मुक्ति की धारणा का सर्वप्रथम वैज्ञानिक प्रणेता भी माना जाता है। मुक्ति की समस्या दर्शन की मुख्य समस्या रही है।

राहुल सांकृत्यायन ने दर्शन के विवेचन के लिए विवरणात्मक पद्धति का इस्तेमाल किया है। इसमें वे दर्शन की अवधारणाओं को रूपवादी ढंग से सरलीकृत रूप में पेश करते हैं। इससे इन धारणाओं के साथ समाज के अन्तःसंबंध को समझने में असुविधा होती है। वे इस क्रम में सिद्धांत चर्चा तो करते हैं लेकिन ऐतिहासिक प्रक्रिया की अनदेखी करते हैं। इससे सभी अवधारणाएं एक-दूसरे से स्वायत्त और संपूर्ण नजर आती हैं। यहां धारणाओं का सर्वसंग्रहवाद पेश कर दिया गया है। इससे दर्शन की युगीन बहस और अन्तर्विरोध नजर नहीं आते, और किसी भी अवधारणा के बारे में कोई सुसंगत समझ नहीं बन पाती।

मार्क्सिय नजरिए के अनुसार सिद्धांत बनी-बनायी धारणाओं तक सीमित नहीं होता। अपितु धारणाएं अध्ययन, सामाजिक विकास और विचारधारात्मक संघर्ष की प्रक्रिया में तेजी से बदलती भी हैं। उनमें भेद नजर आता है, साथ ही जोड़ने वाला कारक भी नजर आता है। इस क्रम में धारणाएँ अपनी संरचना का निर्माण करती हैं। प्रणाली बनाती हैं। वे अन्य चिंतन प्रणाली के रूपों के साथ समन्वयन, अधीनीकरण, बहिर्वेशन, सामान्यीकरण और विकास करती हैं। दर्शन का मार्क्सिय अनुसंधान नयी परिघटनाओं, नियमों और संज्ञान के विषयों की खोज करता है और नए प्रवर्गों और उनकी प्रणालियों को निर्मित करता है।

'दर्शन-दिग्दर्शन' देखकर यह महसूस होता है कि दर्शन तो भ्रांतियों का भंडार है। लेकिन इस विशाल भंडार का अपना निजी वैशिष्ट्य है। राहुलजी ने कौशल के साथ विभिन्न दर्शनों में मौजूद अंतर को रेखांकित किया है। साथ

ही यह रेखांकित करने की कोशिश की है कि विभिन्न दर्शनों का उदय किसी एक दर्शन के गर्भ से नहीं हुआ है। वे यह भी नहीं मानते कि सभी दर्शन सही हैं। दर्शनों के बीच में अंतर दर्शाने के लिए उन्होंने संक्षिप्त ढंग से ऐतिहासिक विधि का यांत्रिक ढंग से इस्तेमाल किया है। कहीं पर दार्शनिक और गैर-दार्शनिक अध्ययन और क्रियाकलाप को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा करने की बजाय अन्तर्ग्रथित रूप में पेश करते हैं और इस तरह वे भाववादी नजरिए की आलोचना करने में सफल हो जाते हैं। वे प्रत्येक अदार्शनिक चीज को दर्शन की उपज नहीं मानते। दिलचस्प बात है राहुल के यहा दर्शन का इतिहास नहीं है लेकिन दर्शन का वैविध्य और विकास जरूर मिलता है। यह वस्तुतः बुर्जुआ नजरिया है। दर्शन के विकास के लिए दर्शन की पुरानी समस्याओं का पुनरुज्जीवन महत्व रखता है। इससे दर्शन के विकास में मदद मिलती है। 'दर्शन-दिग्दर्शन' का महत्व यह है कि उसमें सरल हिंदी में दार्शनिक अवधारणाओं को पेश किया गया है।

दर्शन में सरलीकरण करने से दर्शन में निहित संश्लिष्टता और जटिलता का बोध नहीं होता। दर्शन की परंपरा के मूल्यांकन में काल विभाजन, वर्गीकरण एवं तदनुरूप जीवंत एवं मृत दार्शनिक तत्त्वों का बोध महत्वपूर्ण स्थान रखता है। एक मार्क्सवादी को इसके लिए ऐतिहासिक एवं तार्किक दोनों ही विधियों का प्रयोग करना होता है। इस पद्धति को राहुल ने गंभीरता के साथ लागू नहीं किया है। 'दर्शन-दिग्दर्शन' में वे दार्शनिक विचारों का संग्रह तैयार करने की दिशा में चले गए। इसके लिए भी वे सरलीकरण से काम लेते हैं। इसके कारण वे विभिन्न भौतिक विचारकों के बीच अंतर नहीं कर पाते। वे लोकायत, न्याय-वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक, वैभाषिक, सौत्रान्तिक और जैन दर्शनों के आदर्शवाद के विरोध में अंतर नहीं कर पाए हैं। आदर्शवाद के प्रतिपक्ष की परंपरा को सुसंगत रूप में पेश करने में असमर्थ रहे हैं। 'दर्शन-दिग्दर्शन' देखकर यही लगता है कि भारतीय दर्शन परंपरा में आदर्शवादी चिंतकों का ही वर्चस्व रहा है और उनका प्रतिपक्ष कमजोर रहा है। जबकि हकीकत इसके विपरीत है। औपनिषदिक चिंतकों, महायानी बौद्धों और अद्वैत वेदांतियों के एक हिस्से को छोड़कर भारतीय

दर्शन में आदर्शवाद का किसी ने भी समर्थन नहीं किया। इसका अर्थ नहीं है कि आदर्शवादियों की शक्ति और लोकप्रियता कम रही है। हां, यह शक्ति और लोकप्रियता उन्हें राजनीतिक संरक्षण और वित्तीय समर्थन के कारण प्राप्त थी।

भारतीय परंपरा का जो वर्गीकरण डी.पी. चट्टोपाध्याय ने किया है वह हमारी मदद कर सकता है। मसलन, आदर्शवाद विरोधी दार्शनिकों में चार्वाक या लोकायत, कपिल, जैमिनी, उलूक, कणाद, गौतम, अक्षपाद, श्रीलाभ, बांधव, सौत्रान्तिक, कात्यायनी पुत्र, महान उमास्वति, ईश्वरकृष्ण, शबर, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, शुभगुप्त, अकलंद, प्रभाकर, कुमारिल, उद्योतकर, जयन्तभट्ट, वाचस्पति मिश्र, उदयन, गंगेश, गदाधर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी तरह आदर्शवाद विरोधी इन दार्शनिकों को दो वर्ग में रख सकते हैं। पहली श्रेणी उन दार्शनिकों की है जो ठोस रूप में आदर्शवाद का विरोध करते हैं। इनमें प्रमुख हैं— लोकायत, न्याय-वैशेषिक और सांख्य-दर्शन। दूसरी श्रेणी में वे दर्शन आते हैं जो आदर्श के विरोध की परिधि पर हैं, ये हैं— मीमांसक, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, जैन आदि। दार्शनिक आदर्शवाद का विरोध करने में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

राहुलजी के विवरण की यह विशेषता है कि वे जिसे पसंद करते हैं उसके सिर्फ सकारात्मक पक्ष को ही बताते हैं और उसकी कमजोरियों को नजरअंदाज करते हैं। मसलन, कुमारिल के बारे में राहुल जी का कहना है, 'कुमारिल ने मीमांसा दर्शन में किसी खास तत्त्व का विकास नहीं किया, बल्कि जैमिनी के सिद्धांतों को युक्ति और न्याय से पुष्ट करना चाहा।' (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 616) इस तरह के निष्कर्ष की पहली समस्या यह है कि इसके साथ कुमारिल के दार्शनिक विचारों का विवरण नहीं है। उनके विचारों का जिक्र धर्मकीर्ति के विचारों के खंडन के प्रसंग में आया है। सच यह है कि कुमारिल ने पुरोहितों के विचारों का पक्ष लेने के बावजूद आदर्शवाद के खंडन में महत्वपूर्ण योगदान किया।

इसी तरह राहुलजी ने कणाद के बारे में जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह भी समस्यामूलक है। परमाणुवादी कणाद को राहुलजी ने आत्मवादी कहा है, साथ ही यह भी लिखा है उनकी 'विवेचना का मुख्य लक्ष्य है धर्म के प्रति होती शंकाओं को युक्तियों से दूर कर फिर से धर्म की धाक

स्थापित करना।' (दर्शन-दिग्दर्शन, 585) राहुलजी का मानना है कि धर्म की प्रामाणिकता का अर्थ है वेद की प्रामाणिकता को स्थापित करना। यह भी लिखा कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' का लक्ष्य है धर्म की व्याख्या या मानक वैदिक परंपरा में श्रद्धा पैदा करना। इससे भिन्न देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय का मानना है 'वैशेषिक सूत्र' का वेदों की दार्शनिक धारा से कोई संबंध नहीं है। 'वैशेषिक सूत्र' में मुख्यतः द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थों या तत्त्वों पर विचार विमर्श है। जिनके अंतर्गत जगत की सभी ज्ञात और अभिधेय वस्तुओं को वैशेषिक दर्शन के अनुसार वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया गया है। बीच-बीच में पुरोहितों की महिमा एवं विशेषाधिकारों की सराहना कर दी गयी है। इस ग्रंथ में जो कुछ भी कहा गया है, वह प्रारंभ में घोषित उसके उद्देश्य से एकदम विपरीत है। यह कुल मिलाकर ऐसा ही है कि "सागर की ओर जाने की घोषणा करके हिमालय की ओर चल देना।" राहुल जी ने आरंभिक घोषणा को गंभीरता से लिया है जबकि देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इसे वाक्-छल के अलावा कुछ नहीं माना है, क्योंकि ऐसा न करने पर ग्रंथ अधार्मिक घोषित कर दिया जा सकता है। कणाद, जैसे भी, ऐसी स्थिति से बचना चाहते हैं। साथ ही धर्मशास्त्र प्रणेताओं और निहित स्वार्थी तत्त्वों के संभावित आक्रमण से अपने विज्ञान की रक्षा करना आवश्यक था और इसका सबसे सरल आसान तरीका यही था कि आधिकारिक रूप से स्वीकृत अंधविश्वासों की मोहर उस पर लगा दी जाय।

'दर्शन-दिग्दर्शन' में व्यक्ति केन्द्रित दर्शन परंपरा की प्रस्तुति है। जबकि मूल्यांकन को दार्शनिक तत्त्व केन्द्रित होना चाहिए। राहुल जी की मुश्किल यह है कि वे गौतम अक्षपाद को बुद्धिवादी और कणाद को अध्यात्मवादी मानते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन की मुख्य चिंता तर्कशास्त्र और परमाणुवाद से जुड़ी है। यह दर्शन पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। इसी तरह अक्षपाद गौतम के बारे में राहुलजी ने लिखा है वे कर्मकांड समर्थक थे। ईश्वर की सत्ता मानते थे। पुनर्जन्म या परलोक में विश्वास करते थे। यह कहना ठीक है कि 'न्यायसूत्र' में वेदों की प्रामाणिकता को वे स्वीकार करते

हैं। अक्षपाद गौतम के 'न्यायसूत्र' पर वात्स्यायन ने भाष्य लिखा है, वात्स्यायन ने रेखांकित किया है वैदिक कर्मकांडों के प्रति उनकी श्रद्धा का सारतत्त्व बड़ा ही खोखला है। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि तर्कविज्ञान और वैदिक कर्मकांड, पुनर्जन्म, अंधविश्वासों आदि को एक ही साथ पेश करने के पीछे एकमात्र प्रमुख कारण यही था कि तर्कबुद्धिवाद के लिए दंडित होने से बचा जाय। वस्तुतः वैदिक निष्ठा का नाम लेकर उन्होंने तर्कशास्त्र की रक्षा की।

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने 'भारतीय दर्शन में क्या जीवत है और क्या मृत' में रेखांकित किया है कि कणाद और गौतम वेद के प्रति जो श्रद्धा भाव प्रकट करते हैं उसमें वास्तविक वैदिक दर्शन-मिसाल के तौर पर याज्ञवल्क्य और दूसरों के द्वारा प्रतिपादित उपनिषदों में वर्णित दर्शन के बारे में वे कुछ भी नहीं लिखते। क्योंकि वे जानते थे कि वे जिस दर्शन को मानते हैं उसका उपनिषद् आदि के दार्शनिक नजरिए से अंतर्विरोध है।

राहुलजी ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में धर्मकीर्ति के प्रति भी अपने एकांगी दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। एकांगी इस अर्थ में कि धर्मकीर्ति के नजरिए में सबसे प्रमुख धारणा है 'सहोपालभ-नियम', लेकिन राहुल जी ने उसका जिक्र तक नहीं किया है। साथ ही धर्मकीर्ति के अंतर्विरोधों के बारे में भी राहुलजी चुप हैं। वे धर्मकीर्ति के विचारों की आलोचनाओं का जिक्र तक नहीं करते। मसलन, दिङ्नाग को राहुलजी ने बौद्धदर्शन को भारत में प्रतिष्ठित करने वालों में से एक माना है। लेकिन दिङ्नाग की तर्कप्रणाली में बौद्ध जैसी कोई चीज नहीं है। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि उनकी प्रणाली से तर्कशास्त्र और तत्त्वमीमांसा की एक नयी प्रणाली का बोध होता है। दिङ्नाग ने अपनी रचना 'आलम्बन-परीक्षा' में इस तरह की शैली अपनायी है जिसे प्रत्यक्ष जांच पड़ताल द्वारा पदार्थ की अवधारणा को विलुप्त कर देने वाली शैली कह सकते हैं। धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग की कृति 'प्रमाण समुच्चय' की व्याख्या करते हुए ही 'प्रमाण वार्तिक' का निर्माण किया। वे मौलिक चिंतक हैं, राहुल जी ने उनकी तुलना हेगेल से की है। स्तचेबोत्स्की ने उन्हें भारतीय कांट कहा है। लेकिन उनकी तुलना बर्कले से करना समीचीन होगा।

धर्मकीर्ति अपने युग के सबसे मेधावी दार्शनिक हैं। उनका तर्कविज्ञान में महत्वपूर्ण योगदान है। इसका उनके युग के विज्ञान और तकनीकी विकास से गहरा संबंध है। उनके नजरिए में आदर्शवादी पूर्वाग्रह और तर्कविज्ञान के मध्य अन्तर्विरोध व्यक्त हुआ है, जिसकी ओर राहुल जी ने ध्यान नहीं दिया। धर्मकीर्ति के भाष्यकारों में विनीतदेव और धर्मोत्तर का नाम प्रमुख है। विनीतदेव का भाष्य सरल और धर्मोत्तर का भाष्य पंडिताऊ है। विनीतदेव ने लिखा धर्मकीर्ति का प्रमाण विषयक लेखन दृढ़ प्रतिज्ञा आदर्शवादी के दृष्टिकोण को सामने नहीं लाता। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने 'भारतीय दर्शन में क्या मृत और क्या जीवंत' ग्रंथ में धर्मकीर्ति के प्रमाण के बारे में लिखा है कि यह विमोचन मोटे तौर पर विभ्रमों के आम ढाँचे में विवेचन है। ठेठ आदर्शवादी दृष्टिकोण से तर्क सिद्धांत की सार्थकता भ्रांति की सीमाओं के अंतर्गत ही है। धर्मकीर्ति के विचारों की गंभीर आलोचना के अध्ययन के लिए कुमारिल, शुभगुप्त और अकलंस की कृतियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन दार्शनिकों ने 'सहोपालंभ- नियम' की आलोचना की है। इस प्रसंग में शुभगुप्त के 'बाह्यार्थ-सिद्धि', एम.जे.शाह के 'अकलंस क्रिटिसिज्म ऑफ धर्मकीर्तिज फिलॉसफी' और कुमारिल के 'सर्वास्तिवाद' नामक ग्रंथ में विस्तार से इस अवधारणा पर विचार किया है।

यहां पर राहुलजी के मूल्यांकन की सीमाओं का उद्घाटन करने के लिए दो अवधारणाओं का विवेचन पेश कर रहे हैं। सहोपालंभ नियम-

धर्मकीर्ति के दार्शनिक नजरिए का मूलाधार है 'सहोपालंभ नियम'। इसके कई पहलू हैं जिनको ध्यान में रखा जाना चाहिए। खासकर अवधारणात्मक धरातल पर उसका विश्लेषण करना जरूरी है। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इस अवधारणा पर विस्तार से विचार किया है। 'सहोपालंभ नियम' का शब्दिक अर्थ है तत् क्षणिक (सह) बोध (उपालंभ)। यानी विचार और वस्तु दोनों का अनिवार्यतः एक साथ बोध होने के कारण- वस्तु के रूप में वस्तु का स्वतंत्र ज्ञान न होने के कारण- उसी वस्तु रूप में वस्तु के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस तरह के प्रमाणाभाव के कारण यह स्वीकार करना होगा कि विचार से पृथक

कथित वस्तु की कोई सत्ता नहीं। इसका आशय यह है कि विचार और उस वस्तु में कोई अंतर नहीं। दार्शनिकों के यहाँ 'सह' पदबंध व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त हुई हैं। शुभगुप्त ने 'बाह्यार्थ सिद्धि' में तर्क दिया है कि बोध और साथ ही बोध की वस्तु का चेतना में एक ही क्षण (सह) उदय होता है। लेकिन दोनों की समरूपता सिद्ध नहीं होती। कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के साथ घटित होती है, दो भिन्न तत्त्वों की सह-उपस्थिति को स्वीकार किए बिना सहगामिता की अवधारणा निरर्थक है। केवल एक तत्त्व का ही अस्तित्व स्वीकार करने पर सहगामिता की चर्चा करना एकदम अर्थहीन हो जाता है। शुभगुप्त ने 'सह' शब्द के 'तादात्म्य' अथवा 'एकार्थ' के 'अभिप्राय' से की गई व्याख्याओं का भी खंडन किया है। जैन दार्शनिक अकलंस ने इसी प्रसंग में लिखा है कि 'सह' शब्द को 'समरूपता' अथवा 'एकार्थ' के अर्थ में स्वीकार करने से इसमें द्विरिक्त दोष पैदा हो जाता है।

एम.जे. शाह ने 'अकलंस क्रिटिसिज्म ऑफ धर्मकीर्तिज फिलॉसफी' में लिखा कि अकलंस मानते हैं कि वास्तव में यह उद्दिष्ट निष्कर्ष और इसे प्रमाणित करने के अभिप्राय से प्रस्तुत आधार दोनों के बीच में कोई अंतर नहीं रहने देता। कुमारिल ने धर्मकीर्ति की 'सहोपालंभ नियम' अवधारणा की आलोचना करते हुए लिखा ज्ञान की पड़ताल ज्ञात वस्तु से स्थापित नहीं की जा सकती, क्योंकि दोनों में लाक्षणिक भिन्नता है। आदर्शवादी दार्शनिक मानते हैं कि सब कुछ भाव मात्र अथवा ज्ञान मात्र है, कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जो ऐसी न हो। ऐसी हालत में ज्ञाता और ज्ञात क्या हैं? आदर्शवादी दृष्टिकोण से स्वयं ज्ञान ही कभी ज्ञाता और कभी ज्ञात के रूप में दिखायी पड़ता है। कुमारिल ने 'सर्वास्तिवाद' में लिखा कि यदि ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञात में कोई वास्तविक अंतर नहीं, तो इस दावे का कोई विशेष अर्थ नहीं होगा कि ज्ञान कभी ज्ञाता के रूप में और कभी ज्ञात के रूप में प्रकट होता है। वे कहते हैं कुछ न कुछ अंतर जरूर होता है।

फणिभूषण तर्कवागीश ने 'न्याय दर्शन' में लिखा कि प्रथमतः ज्ञात के साथ ज्ञान की एकात्मकता का वास्तव में कोई प्रमाण नहीं। आदर्शवादी तर्क प्रस्तुत करता है कि ज्ञान

से भिन्न ज्ञानात्मक वस्तु की चेतना संभव नहीं, अथवा ज्ञात से संबंधित चेतना अनिवार्यतः और निरपवाद रूप से मात्र ज्ञान की चेतना होती है। लेकिन यह सब कुछ कल्पना मात्र है, तथ्य नहीं। इसके विपरीत अनुभव का निर्णय यह है जो कुछ भी ज्ञात है, वह ज्ञान से भिन्न रूप में ज्ञात है। और ज्ञानात्मक तथ्य के वास्तविक स्वरूप के विश्लेषण से इस निर्णय की पूर्णतया पुष्टि होती है। ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्यतः एक प्रकार की क्रिया है, और जिसे ज्ञात किया जाना है वह इस क्रिया का लक्ष्य होता है।

किसी क्रिया के लक्ष्य को स्वयं क्रिया से समीकृत नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार काटने की क्रिया खुद अपने को काट नहीं सकती, ठीक उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति की क्रिया स्वयं ज्ञान नहीं हो सकता। कोई एक आदमी लकड़ी का टुकड़ा इसलिए काट सकता है, क्योंकि लकड़ी, काटने की क्रिया से भिन्न होती है। इसी भांति कोई आदमी किसी वस्तु को इसीलिए जान पाता है, क्योंकि ज्ञात वस्तु ज्ञान प्राप्ति की क्रिया से भिन्न होती है।

धर्मकीर्ति के आदर्शवादी दृष्टिकोण के खंडन में अकलंस ने कहा है कि विष के ज्ञान या भाव से ही मृत्यु नहीं हो जाती। यदि गरल की कोई वाह्य सत्ता नहीं, बल्कि वह चेतना अथवा भाव का ही एक स्वरूप है तो उसका पान करने से शरीरपात कैसे हो सकता है? विष का नाम मात्र लेने से किसी की मृत्यु नहीं हो जाती। शुभगुप्त ने लिखा है कि कोई आदमी स्वप्न देखता है कि उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया है। यह वास्तव में एक आत्मपरक भाव है और किसी वस्तुपरक यथार्थ से इसकी संगति नहीं बैठती। वे यह भी तर्क देते हैं कि जब कोई इस विचार को स्वगत करता है कि अकेले मन सत्य है, तब वह कैसे दान आदि जैसे प्रारंभिक कर्तव्यों का पालन करता है? जब कोई बारंबार दान-चिंतन (अर्थात् निपट चिंतन के रूप में दान का, अथवा और भी सरल शब्दों में कहें तो, दान के मात्र विचार का) सहारा लेता है, तो इससे कभी दरिद्रता दूर नहीं होती। अतः अकेले भव या विचार को सत्य नहीं माना जा सकता। जो कि धर्मकीर्ति के दृष्टिकोण की धुरी है।

शून्यवाद : नागार्जुन की 'शून्यवाद' की अवधारणा के

बारे में राहुलजी ने लिखा है, नागार्जुन का दर्शन-शून्यवाद-वास्तविकता का अपलाप करता है। दुनिया को शून्य मानकर उसकी समस्याओं के अस्तित्व को इंकार करने के लिए इससे बढ़कर दर्शन नहीं मिलेगा।' शून्यवाद की यह नकारात्मक समझ है। शून्यवाद को बहुधा यह समझा जाता है कि यह शुद्ध निषेधवाद का ही एक रूप है, जो वास्तविकता को पूर्णतः अस्वीकार करता है। लेकिन यह धारणा सही नहीं है। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय के अनुसार शून्य अथवा 'अभाव' की धारणा (तथा शून्य से बने भाववाचक शब्द शून्यता) का उनके दर्शन में, निस्संदेह एक निर्णायक स्थान है। फिर भी, स्वयं उनके अपने दृष्टिकोण से यह एक कठिन अवधारणा है जिसे बड़ी आसानी से गलत समझ लिया जा सकता है। वस्तुतः शून्य-सिद्धांत से उनका आशय और कुछ नहीं बल्कि वही है जो माध्यमकशास्त्र नामक अपने दर्शन में व्यक्त करने का प्रयास किया है। इसके अनुसार निरपेक्ष अथवा परमतत्त्व, भौतिक जगत अथवा मात्र दृश्य जगत से बिल्कुल परे है, अतः हमारी उन ऐहिक अभिव्यक्तियों की दृष्टि से जो दृश्य जगत के उपयुक्त हैं वह अनिर्वचनीय है। किसी आधिभौतिक अथवा रहस्यात्मक अभिज्ञान के आधार पर ही इसे समझा जा सकता है।

नागार्जुन ने शून्य अथवा अभाव की धारणा का प्रयोग, एक महत्वपूर्ण अर्थ में, वास्तव में आभास और वास्तविकता जैसे दो भिन्न दृष्टिकोणों से किया है। आभासमूलक दृष्टिकोण से इसका अर्थ यह है कि भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु बिल्कुल शून्य अथवा असार है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति एक सूने छायाभास से अधिक कुछ भी नहीं है। लेकिन इसके साथ ही परम तत्त्व अथवा ब्रह्म को भी शून्यता की संज्ञा प्रदान की गयी है। जिसका अर्थ है कि वह समृद्धि, अभिव्यक्ति, विविधता और भिन्नता से रहित (प्रपंच शून्य) है। समृद्धि, अभिव्यक्ति, विविधता और भिन्नता से प्रतीति जगत की ही विशेषताएँ प्रकट होती हैं। इन विशेषताओं से पूर्णतः रहित मानने पर वास्तविक सत्ता को भी शून्यता की संज्ञा दी जा सकती है। इसका सीधा अर्थ है कि हम अपनी ऐहिक भाषा में ब्रह्म अथवा परमतत्त्व को व्यक्त ही नहीं कर सकते। हमारे ऐहिक चिंतन की सभी धाराओं से परे

हैं। इसे रहस्यात्मक चेतना से ही समझा जा सकता है। इसे प्रज्ञापारमिता या इन्द्रियातीत सर्वोच्च ज्ञान कह सकते हैं। इसकी प्राप्ति का अर्थ है असत्य भौतिकजगत से मुक्ति या निर्वाण। नागार्जुन के यहाँ इसके लिए दूसरा शब्द है शून्यता। यहाँ पर यह कहना प्रासंगिक होगा कि दर्शन के इतिहास के लिए परिप्रेक्ष्य का प्रश्न बेहद महत्वपूर्ण प्रश्न है। परिप्रेक्ष्य का अर्थ किसी दार्शनिक की धारणाओं का विवरण नहीं होता। और न ही किसी दार्शनिक विशेष की मूल धारणा का सरलीकृत प्रस्तुतिकरण ही परिप्रेक्ष्य कहलाता है। इसी तरह दर्शन में पक्षधरता का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। साथ ही दार्शनिकों पर विचार करते समय राज्यों, सामंतों पर आर्थिक निर्भरता को भी देखा जाना चाहिए। दर्शन में पक्षधरता सामाजिक प्रगति की द्वंद्वत्मकता और सामाजिक विकास के वस्तुगत व्याघातों से उद्भूत होती है। दर्शन में सत्य के वस्तुगत ज्ञान से यह पक्षधरता सुसंगत ढंग से उद्भूत होती है।

प्राचीन समाज के मूल्यांकन की कमजोरियाँ : राहुलजी ने मार्क्सवाद का यांत्रिक प्रयोग करते हुए वेदों के निर्माण के युग में 'प्रभुताशाली सामंती राज्य' खोज लिया। साथ ही 'वर्ण' या जातियाँ भी खोज लीं। जबकि वैदिक धर्म वर्गों के उदय के पहले आयों के समाज में प्रचलित धर्म था। यह प्रकृति पूजा का आदिम रूप है। वे यह भी मानते हैं कि "वैदिक ऋषि धर्म और देववाद में विश्वास करते थे।" असल में, वेदों में सीधे-सादे भौतिकवाद और आदर्शवाद का सूक्ष्म सम्मिश्रण है। वैदिक देवता मूलतः प्रकृति की शक्तियों का मूर्त रूप थे। देवताओं की मूलतः तीन श्रेणियाँ मिलती हैं। 1. खगोलीय 2. वायुमंडलीय 3. भौमिक। यहाँ न शिव है, न देवीमाता है और न लिंग पूजा ही है।

के. दामोदरन ने भारतीय चिंतन परंपरा में लिखा है कि वैदिक युग की विकास की आदिम कम्युनिस्ट अवस्था का सामाजिक संगठन गणों और गोत्रों-कुलों और कबीलों पर आश्रित था। इस ढाँचे में बहुत से परिवर्तन हुए और एक ही क्षेत्र की सीमाओं के अंदर बहुत से वर्गों को संयुक्त करने वाले सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। राहुलजी का वैदिक ऋषियों का मूल्यांकन भी सही नहीं है। वैदिक युग के ऋषिगण अपने रहन-सहन की परिस्थितियों को सुधारने के

साधनों की खोज में व्यस्त रहते थे। वे जीवन की पूर्णता और विविधता को स्वीकार करते हैं। उन वस्तुओं को वे ठुकराते नहीं थे जो सांसारिक थीं। रहस्यपूर्ण चिंतन-मनन और संन्यास उनके हथियार नहीं थे। उनके हथियार थे तीर-कमान और दूसरे तेज हथियार। वे आत्मनिष्ठ नहीं, ठोस आदर्शवादी थे।

राहुलजी का मानना है कि 'वैदिक ऋषि धर्म और देववाद में विश्वास करते थे', इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ टैगोर का मानना है कि वैदिक स्तुतियाँ 'अस्तित्व के प्रति आश्चर्य और श्रद्धा की उन लोगों की सामूहिक प्रतिक्रिया की काव्यात्मक वसीयत हैं जिनकी कल्पना सभ्यता के उषःकाल में अत्यंत शक्तिसंपन्न और अकृत्रिम थी तथा जो जीवन में निहित अक्षय रहस्य की भावना से अभिभूत थे। यह उनकी सरल आस्था थी जिसने प्रकृति के ही तत्त्व और हर शक्ति पर देवत्व आरोपित किया। किंतु यह अत्यंत साहसपूर्ण और उल्लासपूर्ण आस्था थी। इसमें देवताओं के प्रति भय को उन्हीं के प्रति विश्वास संतुलित करता था, और रहस्यमयता की भावना उसे किंकर्तव्यविमूढ़ता के बोझ के नीचे दबाती नहीं थी बल्कि और भी सम्मोहक बना देती थी।'

इसी तरह उपनिषदों की रचना ऐसे समय हुई थी जब वर्गों का उदय हो रहा था और कबीलों को संगठित करके राज्यों का निर्माण किया जा रहा था। बहुदेववाद की जगह एकेश्वरवाद जन्म ले रहा था। राहुलजी ने उपनिषद काल को 4 भागों में विभाजित किया है। पहला युग 700 ई. पूर्व, दूसरा युग 600-500 ई. पू., तीसरा युग 500-400 ई. पू., चौथा काल 200-100 ई. पू. रखा है।

दर्शन में वर्गीकरण और प्रणाली की समस्याएँ- राहुलजी ने दर्शन के वर्गीकरण के लिए जो नाम दिए हैं, वे मार्क्सिय आधार पर ठीक नहीं जंचते। मसलन, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, आत्मवादी, ब्रह्मवादी आदि इन नामों के माध्यम से दर्शनों का वैज्ञानिक वर्गीकरण संभव नहीं है। मार्क्सिय नजरिए से दर्शन का इतिहास लिखने के लिए मूलतः दो पद्धतियाँ अपनायी जा सकती हैं। पहली पद्धति यह हो सकती है कि दर्शनों का विभाजन आदर्शवाद और भौतिकवाद के आधार पर किया जाय। आदर्शवाद में भी

आत्मगत और वस्तुनिष्ठ दो वर्ग हैं। भौतिकवाद के वर्गीकरण को 4 भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं। 1. प्राचीन दार्शनिकों का स्वतःस्फूर्त भौतिकवाद, 2. 16वीं से 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध के विचारकों का आध्यात्मिक भौतिकवाद, 3. 19वीं सदी के प्रजातंत्रवादियों का भौतिकवाद, 4. द्वंद्वत्मक भौतिकवाद। पिछले तीन हजार वर्षों का दर्शन का इतिहास आदर्शवाद और भौतिकवाद के मध्य संघर्ष का इतिहास है। इन तीनों रूपों का ऐतिहासिक एवं द्वंद्वत्मक विकास है मार्क्स की द्वंद्वत्मक पद्धति। यह संज्ञान की पद्धति है तथा सामाजिक जीवन का क्रांतिकारी रूपांतरण है। इसे द्वंद्वत्मक भौतिकवाद कहते हैं। इस पद्धति का आध्यात्मिक पद्धति से विरोध है। दर्शन के इतिहास में वर्गीकरण के लिए यह पद्धति उपयोगी है।

दर्शन के इतिहास में विवरणात्मक और परिचयात्मक लेखन को द्वंद्ववादी पद्धति का विकल्प नहीं बनाया जा सकता। 'दर्शन-दिग्दर्शन' मूलतः विवरणात्मक पद्धति के आधार पर लिखी गयी किताब है। इस किताब का ऐतिहासिक महत्त्व है। पर इसे मार्क्सिय दृष्टिकोण से लिखी किताब नहीं कह सकते। यह किताब मूलतः पुनरुत्थानवादी नजरिए का विरोध करने के लिए लिखी गयी। स्वाधीनता संग्राम के दौरान जो विवेकवादी नजरिया विकसित हुआ उसकी इसमें अभिव्यक्ति नजर आती है। विवेकवाद और बुद्धिवाद को प्राथमिकता देना इस किताब का मूल लक्ष्य है। राहुलजी के युग में दर्शन के इतिहास के अधिकांश अध्ययन सिद्धांतों के बीच बढ़ते अन्तर्विरोधों पर जोर देते हैं। राहुलजी ने इस भिन्नता में व्याप्त तादात्म्य को खोजा है। वे दर्शनों में व्याप्त सह-अस्तित्व, संघर्ष और अन्तर्विरोधों की भी चर्चा करते हैं।

मार्क्सिय दृष्टि से दर्शन के इतिहास में प्रणाली का महत्त्व है। प्रणाली से रहित तत्त्व निरूपण में कोई भी वैज्ञानिकता नहीं हो सकती। सही दार्शनिक प्रणाली की दूसरी मूल विशेषता है उसके संघटक सिद्धांतों की एकता। यह एकता वहीं तक संभव है जहां तक विशिष्ट, पृथक् सिद्धांत निरपेक्ष न माने जायें तथा इस वजह से वे एक दूसरे के मुकाबले में नहीं रखे जा सकते। प्रणाली की धारणा को सबसे पहले मार्क्स ने खोजा। प्रणाली की पूर्व

मार्क्सवादी अवधारणाओं का महत्त्व बहुत ही सीमित तथा अन्वेषणात्मक था, क्योंकि वे इस कल्पना से आगे नहीं बढ़ी कि अपरिवर्तनीय तत्त्वों का अस्तित्व है। प्रणाली अध्ययन को अपरिवर्तनीय संघटकों के संभव संयोजनों के विश्लेषण के रूप में समझा गया। माना जाता था कि समष्टि को दूसरे तत्त्व निर्धारित करते हैं। लेकिन संघटक अंगों की स्थिति में परिवर्तनों अर्थात् संरचनात्मक परिवर्तनों ने उन्हें कोई नया गुण प्रदान नहीं किया। प्रत्येक प्रणाली विशेष के तत्त्वों की संख्या को भी सदा के लिए अपरिवर्तनीय तथा स्थापित मान लिया गया। अतः प्रणाली को भी संतुलित मान लिया गया। प्रणाली के विकास के बारे में अवधारणा प्रणाली की अवधारणा बेमेल प्रतीत हुई। प्रणाली की उत्पत्ति के प्रश्न को यदा-कदा ही उठाया गया। वर्तमान समय में प्रणाली की अवधारणा ने सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है। अतः इसे सभी दर्शनों पर लागू किया जाना चाहिए।

परंपरागत दार्शनिक प्रणालियों तथा सामान्य दर्शन का मार्क्सवादी निषेध एक नये किस्म की दार्शनिक प्रणाली का आधार है। इसे द्वंद्वत्मक भौतिकवादी प्रणाली कहते हैं। मार्क्सवादी दर्शन सत्तामीमांसा तथा किसी भी ज्ञान की व्याख्या ज्ञानमीमांसीय ढंग से करता है और उसके जरिए इसे जड़सूत्र नहीं बनने देता तथा इसके आगे के विकास को प्रोत्साहित करता है। साथ ही मार्क्सवादी दर्शन निरपेक्ष ज्ञान को अस्वीकार करता है पर निरपेक्ष ज्ञान और निरपेक्ष सत्य यानी मूर्त ज्ञान के बीच भेद करता है, जिसका विषय न केवल विशेष, बल्कि सार्विक भी हो सकता है।

विश्व दृष्टिकोण की वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में मार्क्सवाद, वैज्ञानिक ज्ञान की प्रणाली के रूप में मार्क्सवाद वैज्ञानिक ज्ञान की प्रणाली में दर्शन के स्थान में गुणात्मक परिवर्तन को स्वीकार करता है। इस क्रम में वह विज्ञान का सहयोग भी लेता है। इसी अर्थ में मार्क्सिय दर्शन इतिहास लेखन संपूर्णता का बोध पैदा करता है और सामाजिक परिवर्तन का मार्ग दिखाता है। राहुलजी की कृति 'दर्शन-दिग्दर्शन' को उपरोक्त नजरिए से देखें तो पाएंगे कि दर्शन की परंपरा के मूल्यांकन का उनका नजरिया गैर मार्क्सवादी है। जबकि सर्जनात्मक साहित्य में वे वैज्ञानिक नजरिए के करीब हैं, वहीं साहित्यालोचना में यांत्रिक मार्क्सवादी हैं,

पर समाज के इतिहास लेखन की दृष्टि पूर्णतः मार्क्सवादी है और यही उनकी इतिहास सृष्टि का सार है।

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय के अनुसार भारतीय प्रणाली में सबसे पहले 'वाकोवाक्य' की प्रणाली मिलती है जिसमें प्रश्नोत्तर के रूप में विवाद करते हैं। यह प्रणाली यूनानी पदबंध 'डायलेक्टिक' से मिलती-जुलती है। कालांतर में चिकित्साशास्त्र में यह पद्धति सुरक्षित रही। दर्शन में 'न्यायसूत्र' कृति में इनका विकास हुआ। यह इस पद्धति से लिखी पहली कृति है। इसकी रचना ईसा पूर्व दो सौ साल पहले हुई थी। इसके रचयिता गौतम अक्षपाद थे। इसकी विस्तृत व्याख्या पांचवीं शताब्दी में वात्स्यायन ने की। किसी दर्शन की 'अंतिम जांच-पड़ताल' विवेचनात्मक नजरिए से करनी चाहिए। जब हम किसी कृति या दर्शन की परीक्षा करें तो 'संदेह' को आधार बनाएँ। 'संदेह' के बिना विश्लेषण संभव नहीं है। इसे हिंदी में 'विमर्श' या 'संशय' भी कहते हैं। वात्स्यायन के अनुसार 'संदेह' पाँच किस्म के होते हैं, जिनमें तीसरा रूप है- 'विप्रतिपत्ति जन्य संशय' अर्थात् अन्तर्विरोधी आग्रहों से उत्पन्न संदेह, यह दार्शनिक जांच की पहली शर्त है। वात्स्यायन ने लिखा है कि 'विवेचनात्मक परीक्षण' और कुछ नहीं, संदेह उत्पन्न करने वाले पक्ष और प्रतिपक्ष के टकराव के माध्यम से 'अंतिम-जांच-पड़ताल' है। भारतीय दार्शनिक अध्ययन विधि में सबसे पहली समस्या है औचित्य प्रतिपादन की। औचित्य प्रतिपादन के बाद तर्क-वितर्क होता है, इस क्रम में समस्या के संबंध में सही संशय को उजागर किया जाता है अर्थात् यह प्रस्तुत किया जाय कि दो परस्पर विरोधी स्थितियाँ विद्यमान हैं। ये स्थितियाँ पक्ष (थीसिस) और विपक्ष (ऐण्टीथीसिस) कहलाती हैं। राहुलजी ने इस पद्धति का प्रयोग नहीं किया और नहीं मार्क्सवादी पद्धति का ही प्रयोग किया है।

आत्मकथा और जीवनी साहित्य के मानदण्ड : नामवर सिंह ने बड़े ही तरीके से राहुलजी पर लिखते समय 'आत्मकथा' विधा के बुनियादी मानदण्ड को उद्घाटित किया है। वह इस विधा के मूल्यांकन का प्रस्थान बिंदु हो सकता है। इसमें तीन महत्वपूर्ण बिंदु हैं। 1. ऐतिहासिकता, 2. सत्य, 3. आत्मालोचक भावबोध। इन तीन तत्त्वों को राहुल सांकृत्यायन ने जीवन और आत्मकथा लेखन में बड़े

पैमाने पर इस्तेमाल किया है। वे जब भी किसी व्यक्ति पर लिखने जाते हैं तो इन तीन तत्त्वों का खासतौर पर ख्याल रखते हैं। यहां तक कि स्वयं पर लिखते समय भी इन तीनों तत्त्वों का भरपूर इस्तेमाल करते हैं। इस क्रम में उन तमाम तत्त्वों की गहरी छानबीन करते हैं, मूल्यांकन करते हैं, जिनका व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया से संबंध है। नामवरजी ने उनके व्यक्तित्व से संबंधित जिन तीन बातों के बारे में लिखा है, वे तो महत्वपूर्ण हैं ही, इसके अलावा भी कई बातें हैं जिनका नामवरजी ने जिक्र किया है। नामवरजी ने लिखा है, 'अनेक स्मृतियाँ हैं। पर केवल तीन बातें उनके व्यक्तित्व के बारे में कहना चाहूँगा। आज के संदर्भ में उनका व्यक्तित्व ही बहुत प्रासंगिक है। जब भी मैं उनसे मिलने गया, उन्हें काम करते देखा। पूछने पर उन्होंने कहा, "पुनर्जन्म में तो विश्वास है नहीं। एक ही जन्म मिला है। इसलिए, इस जन्म में जो करना है, कर लो। किसी को हिसाब देना हो, न देना हो स्वयं अपने सामने तो देना है।" उन्होंने एक जगह कहा है- "मैं हर सेकेंड का तो नहीं, लेकिन हर मिनट का हिसाब दे सकता हूँ।"..." "दूसरी बात मैंने राहुलजी से सीखी है- निरंतर कर्म की।"..." तीसरी बात सीखी वह यह कि कभी उनको उत्तेजित नहीं पाया।'

नामवरजी ने राहुल के विचारधारात्मक नजरिए का मूल्यांकन करते हुए निष्कर्ष निकालते हुए, विचारधारा जिस हद तक काम आए, इस्तेमाल करो। काम जब न आए, छोड़ दो। जो बेहतर चीज हो, उसे ले लो।' अपने नजरिए के बारे में इस तरह का अनाशक्त भाव उनकी सबसे बड़ी शक्ति थी और इसे उन्होंने महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से ग्रहण किया था। राहुलजी ने बुद्ध का एक वचन पालि में उद्धृत किया है-

*"कुल्लुपमं देसेस्यामि वो भिक्खवे धम्मं
तरणत्थाय नो गृहणत्थाय।"*

"हे भिक्षुओं! यह धर्म मैं छोटी सी नाव के समान दे रहा हूँ पार उतरने के लिए। पार उतर जाने के बाद सिर पर रखकर ढोने के लिए नहीं।"

राहुल की जीवनी पहलुओं पर रोशनी डालते हुए नामवरजी ने बहुत मार्क की बात कही है, नामवरजी ने लिखा है,

‘साधारण जनों के लिए राहुल के विचारों या उनकी किताबों से ज्यादा महत्वपूर्ण है- राहुल का जीवन, जीवन-यात्रा, जीवन-संघर्ष।’ राहुल के क्रांतिकारी व्यक्तित्व या फिर कहें कि किसी भी लेखक के व्यक्तित्व निर्माण में बचपन की घटनाओं की बहुत बड़ी भूमिका होती है। नामवरजी के अनुसार “राहुलजी ने घर से भागने, उसे छोड़ने के सिलसिले में लिखा है। 1904 की गर्मियों में जब राहुलजी की उम्र 19 वर्ष की थी, अचानक काफी बहसा-बहसी के बाद तिलक हुआ, शादी हुई। राहुलजी ने लिखा है “उस वक्त 11 वर्ष की अवस्था में मेरे लिए यह तमाशा था।” और फिर उसके बाद पहली उड़ान उन्होंने भरी। उन्होंने जीवन-यात्रा में लिखा है कि 16 वर्ष की उम्र (1909) में पहली बार घर छोड़ा। लिखते हैं, “जब मैं सारे जीवन पर विचारता हूँ, तो मालूम होता है, समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने में इसने ही पहला काम किया।... 1909 के बाद घर शायद ही कभी जाता था, 1913 में बाद से तो मैं गृहत्याग का बाकायदा अभ्यास करने लगा।... 1909 के बाद घर शायद ही कभी जाता था, 1913 के बाद तो वह भी खत्म-सा हो गया और 1917 की प्रतिज्ञा के बाद तो आजमगढ़ जिले की भूमि पर पैर तक नहीं रखा।” यह स्थिति लगभग 1943 तक थी। बार-बार घर छोड़कर कभी कलकत्ता, कभी हरिद्वार गए, लगातार घर से जो भागते रहे और इस भागने की प्रक्रिया में वह क्षण जब उन्होंने ब्रत लिया, “ये कहना ही काफी नहीं है कि घर नहीं जाऊँगा। जिस आजमगढ़ जिले में घर है उसकी सीमा पार करने में भी खतरे हैं।” आप जानते हैं कि घर से लोग भागकर जाते हैं और खींच लिये जाते हैं। वह मार्मिक प्रसंग राहुलजी ने लिखा है। पिता के साथ अंतिम घटना। आर्यसमाज के प्रचारक के नाते उस समय मिर्जापुर के पास अहिरौरा नाम की जगह में थे वहाँ से आर्यसमाज के प्रचार कार्य के लिए अन्यत्र जाने वाले थे। पिता पता लगाते हुए पहुँचे और जैसे ही पिता आए तो वे देख कर उसी समय वहाँ से भागे। स्टेशन पर देखा कि लगभग 9-10 मील तक गोवर्धन पंडित दौड़ते हुए स्टेशन पर पहुँचे और स्टेशन पर पहुँच करके जोर-जोर से विलाप करने लगे, क्यों मुझे मारने पर तुले हो। स्वयं राहुल जी के शब्दों

में उस घटना का एक चित्र आपके सामने देना चाहता हूँ: “जिसका डर था, आखिर वही बात हुई। अभी टिकट बँटने न पाया कि पिताजी प्लेटफार्म पर पहुँच गए। वह हाँफ रहे थे। उन्होंने 9-10 मील की यात्रा साँस लिये दौड़ते या तेजी से चलते तय की थी, नहीं तो इतनी जल्दी कैसे पहुँच सकते थे?... वह मुझे देखते ही फूट-फूटकर रोने लगे तथा उलाहना देने लगे। प्लेटफॉर्म पर लोग जमा हो गए। वह चिल्ला रहे थे- क्यों मुझे मार रहे हो? मुझे भी अपने साथ ले चलो आदि। उनकी बातों में पिछले साल की अर्धविक्षिप्तता का भी हल्का-सा असर था, नहीं तो रोने और चिल्लाने में अपनी स्वाभाविक गंभीरता का परित्याग कर वह उतने अधीर और कातर न बनते। मैंने एक बार हिम्मत बाँधकर कहा- आखिर, कब तक आप मुझे इस प्रकार बाँधकर रखेंगे...। मैंने महेशपुरा की ओर यात्रा स्थगित की और दो टिकट लेकर बनारस की ओर रवाना हुआ। ट्रेन में और उससे भी ज्यादा बनारस स्टेशन पर मैंने ठंडे दिल से समझाना शुरू किया- मैं आपके भावों को, आपकी बेकरारी को समझता हूँ, किंतु साथ ही मेरा जीवन भी किसी भविष्य की लालसा रखता है, जिसकी अस्फुट झाँकी मुझे मिल रही है, उसके कारण जबरदस्त से जबरदस्त खतरे, मृत्यु के साक्षात् दर्शन तक भी अब मुझको अपने पथ से विचलित नहीं कर सकते। मैं कनैला के अयोग्य हूँ, मैं आपके काम का नहीं रहा। यदि ऐसा ही करना था, तो मुझे गाय-भैंस की चरवाही में लगा दिए होते, मेरी दुनिया कनैला की सीमा से परिसीमित हो जाती। अब जोर देने का भयंकर परिणाम होगा, आपको मेरे जीवन से हाथ धोना होगा। मैंने इन बातों को धीरे-धीरे उन्हें बोलने का मौका देते हुए कहा। इसका उनके दिल पर असर हुआ। अंतिम उत्तर जिस तरह उनके मुख से यकायक निकला, उसकी मुझे आशा नहीं हो सकती थी। उन्होंने कहा- अब मैं तुम्हारे रास्ते में बाधक नहीं होऊँगा, किंतु साथ ही मैं भी कनैला न जाकर यहीं बनारस में ही अपने जीवन को बिता दूँगा अपने वचन के पूर्वार्द्ध का उन्होंने ठीक से पालन किया। यही उनका अंतिम दर्शन था। मैंने प्रतिज्ञा की- अब से पचास वर्ष की उम्र खत्म होने तक फिर आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर कदम न रखूँगा।”

(आलोचना और विचारधारा, पृ. 277-78) इस उद्धरण में वह पहलू उभरकर सामने आया है जिसको हम मूल्यांकन करते समय हमेशा भूल जाते हैं। मसलन, व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में बचपन की भूमिका, परिवारजनों के आचरण की भूमिका आदि। राहुलजी ने अपनी जीवनी लिखी हैं, अनेक व्यक्तित्वों का विवेचन किया है, उनकी शैली झलक देखने के लिए यहां पर हम 'अकबर' नामक कृति में चित्रित दो महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों का मूल्यांकन पेश कर रहे हैं।

सम्राट अकबर : अकबर के शासनकाल में भारत की जो इमेज बनी वह हम सबके लिए गौरव की बात है। एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में भारत को निर्मित करने में अकबर का अतुलनीय योगदान था। भारत को शक्तिशाली राष्ट्र बनाकर अकबर ने भारतीय जनता की जो सेवा की है उसके सामने सभी मुस्लिम विरोधी आलोचनाएँ धाराशायी हैं। भारत के मुसलमान कैसे हैं और कैसे होंगे अथवा भारतीय नागरिक कैसे होंगे, यह तय करने में अकबर की बड़ी भूमिका थी। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है— अकबर के जमाने में हिंदू जितने रूढ़िवादी और कूपमंडूक थे, उसकी तुलना में मुसलमान उदार हुआ करते थे। मसलन, हिंदुओं में इक्का-दुक्का लोग ही विदेश जाते थे जबकि मुसलमानों में बहुत बड़ा हिस्सा हज करने के बहाने मक्का यानी विदेश जाता था। अकबर के जमाने में भारत में यूरोपीय लोग गुलाम की तरह बिकते थे, यह रिवाज अकबर को नापसंद था। उसने अनेक यूरोपीय गुलामों को मुक्ति दिलाई और उनको पोर्तुगीज पादरियों के हवाले कर दिया। इनमें अनेक रुसी थे। दुखद पहलू यह है अकबर के बाद जो शासक सत्ता में आए उनमें वैसी अक्ल और विवेक नहीं था, फलतः अकबर के जमाने में पैदा हुई अनेक परंपराएँ आगे विकसित नहीं हो पायीं।

अकबर को इस बात का श्रेय जाता है कि उसने पहली बार जनाना बाजार की अवधारणा साकार की, मीना बाजार का निर्माण किया। अकबर यह भी चाहता था कि भारत में बहुपत्नी प्रथा बंद हो और एक पत्नी प्रथा आरंभ हो। लेकिन वह इस मुतल्लिक कानून बनाने में असफल रहा। अकबर की धारणा थी कि भारत की औरतें आजाद ख्याल

हों और उन पर कोई बंधन न हो। मीना बाजार के बहाने अकबर ने पहली बार औरतों को पर्दे, महलों और घरों की बंद चौहद्दी से बाहर निकाला। मीना बाजार में औरतें खूब आती थीं, एक-दूसरे से मिलती थी, औरतें ही दुकान चलाती थीं। जिस दिन जनाना बाजार लगा था उसे 'खुशरोज' (सुदिन) कहा जाता था। मीना बाजार में यदि कोई लड़की पसंद आ जाती थी तो लड़का-लड़की में प्रेम हो जाता था। जैन खाँ कूका की बेटी पर यहीं सलीम आशिक हो गया था, लड़की की शादी नहीं हुई थी, मालूम होने पर अकबर ने खुद शादी कर दी। अकबर के जमाने में बाजार में प्रेम की परंपरा की नींव पड़ी, अकबर ने इसे संरक्षण दिया और आज यह परंपरा युवाओं में खूब फल-फूल रही है। पर्दा प्रथा की विदाई हुई।

अकबर की विशेषता थी कि वह दासता का विरोधी था। उसने अपने दासों को मुक्त कर दिया था। अबुलफजल के अनुसार अकबर ने सन् 1583 में दासमुक्ति का आदेश दिया। लेकिन समाज में दासों की समस्या बनी रही। अकबर के रूढ़िवादी रूप का आदर्श रूप था उसका दाढ़ी विरोधी नजरिया। अकबर और उसका बेटा दाढ़ी नहीं रखते थे। दाढ़ियों से अनेक रूढ़ियाँ चिपकी हुई थीं, इसलिए अकबर ने दाढ़ी को निशाना बनाया। अकबर और उसके शहजादे ने दाढ़ी नहीं रखी। जहाँगीर ने सारी जिंदगी दाढ़ी नहीं रखी। लेकिन शाहजहाँ और उसके बाद के जमाने में दाढ़ी लौट आयी। अकबर के दाढ़ी न रखने का आम जनता में व्यापक असर पड़ा और हजारों लोगों ने अपनी दाढ़ियाँ मुड़वा दीं।

अकबर का दिमाग पूरी तरह आधुनिक था उसने भारत में व्यापक स्तर पर बारूद का इस्तेमाल किया। बारूदी हथियारों का प्रयोग किया। जबकि बाबर ने ईरान के शाह इस्माइल के सहयोग से बारूद और तोपों के इस्तेमाल की कला सीख ली थी। तोपों का सबसे पहले प्रयोग किया। अकबर पहला ऐसा शासक था जिसको मशीनों से प्रेम था, मशीनों के जरिए आविष्कार करना उसे पसंद था। जेस्विट साधु पेरुश्ची के अनुसार "चाहे युद्ध संबंधी बात हो या शासन संबंधी बात हो या कोई यांत्रिक कला, कोई चीज ऐसी नहीं है, जिसे वह नहीं जानता या कर नहीं सकता

था।” राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है “अकबर ने महल के अहाते के भीतर भी कई बड़े-बड़े मिस्त्री खाने कायम किये थे, जिनमें वह अक्सर स्वयं अपने हाथ से हथौड़ी-छिन्नी उठाने से परहेज नहीं करता था। उसने हथियारों और यंत्रों में कई आविष्कार किये थे, जिनका उल्लेख ‘आईन-ए-अकबरी’ में अबुल फजल ने किया है। चित्तौड़ के आक्रमण के समय उसने अपनी देख-रेख में आध-आध मन के गोले ढलवाये। बंदूक चलाने में वह बड़ा ही सिद्धहस्त था शायद ही उसका कोई निशाना खाली जाता था।”

सैयद मुहम्मद जौनपुरी : यह एक मिथ है कि भारत के मुसलमान फंडामेंटलिस्ट हैं, यहां मुसलमानों में कोई धर्मनिरपेक्ष परंपरा नहीं है। सब कुछ शरीयत के हिसाब से होता रहा है। मुसलमानों के बारे में ये सभी बातें एक सिरे से बेबुनियाद हैं। मुगल सल्तनत के जमाने में भारत में मुस्लिम बुद्धिजीवियों की निडर धर्मनिरपेक्ष परंपरा रही है और उसकी मध्यकाल में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ये वे लोग हैं जो न तो शरीयत से खौफ खाते थे, न खुदा के नाम से डरते थे, इनका हिंदुस्तान की जनता से गहरा लगाव था। मजेदार बात यह है कि कबीर आदि भक्ति आंदोलन के कवि जिस समय सामाजिक न्याय की काल्पनिक बयार बहा रहे थे उस समय मुसलमानों में तीन बहुत बड़े कद के महापुरुष हुए हैं, ये हैं सैयद मुहम्मद जौनपुरी, मियाँ अबुल्ला नियाजी और शेख अल्लाई। हिंदी के महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन तीनों को मुस्लिम साम्यवादी कहा है।

राहुल सांकृत्यायन ने ‘अकबर’ (1957) में लिखा है “यह आश्चर्य की बात नहीं है कि यदि हिंदू नहीं, बल्कि ये मुस्लिम सल्तनतें हमारे प्रादेशिक साहित्य के निर्माण में सबसे पहले आगे आईं। इस्लाम-प्रभावित हिंदी अर्थात् उर्दू का साहित्य बहमनियों के समय शुरू हुआ। बंगाल की भी यही बात है। जौनपुर की शर्की-सल्तनत ने हमें कुतुबन, मंझन और जायसी जैसे रत्न प्रदान किए। जौनपुर ने हमारी धरती में बहुत नीचे तक घुसने की कोशिश की। 15वीं सदी में, एक सौ साल ऊपर तक, वर्तमान उत्तर प्रदेश और

बिहार की सांस्कृतिक और राजनीतिक राजधानी जौनपुर रही। उसके महत्व को बहुत कम लोग समझते हैं। इसी जौनपुर में सैयद मुहम्मद जौनपुरी का जन्म हुआ था। इनकी मृत्यु 1505-06 ई. (हिजरी 911) में हुई। जान पड़ता है यह 15वीं शताब्दी के मध्य पैदा हुए। उनकी जवानी के समय देश की अवस्था बड़ी दयनीय थी। चारों ओर बदअमनी छाई हुई थी। जौनपुर ने काफिरों के साथ अपना घनिष्ठ संबंध जोड़कर कुफ्र की ओर एक कदम उठा लिया था। हिन्दू-मुस्लिम शासक या धर्माचार्य पसंद नहीं करता था। चावल-उड़द की तरह उनका मेल हो, इसके मानने वाले भी बहुत नहीं थे, तो भी उसका उतना विरोध नहीं होता था। शेरशाह ने जौनपुर में हिंदू मुसलमान की एकता देखी, वहीं उसका बचपन बीता था। यही शेरशाह प्रायः हर बात में अकबर का मार्ग-प्रदर्शक रहा।”

यही वह माहौल है जिसमें पहला मुस्लिम साम्यवादी सैयद मुहम्मद जौनपुरी जन्म लेता है और नए विचारों की रोशनी मशाल लेकर सामने आता है। वह कबीर का समकालीन था। उस समय शासकों के खिलाफ धर्म की आड़ में बगावत का साहित्य लिखा गया। यही बाद में अन्त-ल्-मेहदी (तू मेहदी है) के नाम से मशहूर हुए। राहुल ने लिखा है “मेहदी का शब्दार्थ शिक्षक या अंतिम है। इस्लाम में हजरत मुहम्मद के बाद आने वाले सबसे अंतिम पैगम्बर को मेहदी कहा जाता है। मेहदी का मुसलमानों में वही स्थान है जो कि हिंदुओं में कल्कि अवतार का। मुल्कों के लिए यह बड़ी कड़वी घूँट थी। सौभाग्य से सैयद मुहम्मद दिल्ली में नहीं, जौनपुर में पैदा हुए जहाँ अधिक खुलकर साँस ली जा सकती थी।”

अतीत की इन बातों की ओर ध्यान दिलाना इसलिए भी जरूरी है जिससे हम यह समझ सकें कि भारत में इस्लाम की परंपरा वही नहीं है जिसको शरीयत के कट्टरपंथी व्याख्याकारों ने बनाया है। बल्कि भारत में इस्लाम की परंपरा भिन्न रही है। बल्कि कई परंपराएं रही हैं।

संपर्क:

ए-8, पी 1/7, सी.आई.टी. स्कीम-VII एम, कोलकाता-700054, मो. 09331762360

हिंदी गद्य की अंतर्निधायी प्रकृति

डॉ. शशि मुदीराज

हिंदी गद्य की सत्ता : कुछ प्रश्न

सन् 1977 में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी की एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित हुई जो अपने मूल प्रश्नों के कारण महत्वपूर्ण हैं। उनके द्वारा उठाये गये मूल प्रश्न हैं कि क्या गद्य की अपनी कोई निजी सत्ता है, अपनी संप्रभुता है? उनकी चिंता है कि कविता की तरह गद्य आत्मनिर्भर और प्रभुतासंपन्न नहीं है, ऐसा क्यों?

ये प्रश्न और चिंताएं सत्तर के दशक की हैं, तब से अब तक स्थितियाँ बदल चुकी हैं और हमारी साहित्यिक विधाएँ भी विस्तार के क्रम में परस्पर सीमातिक्रमण के दौर से गुजर रही हैं। स्वयं डॉ. चतुर्वेदी की चिंताएँ भी 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' के सहस्राब्द संस्करण (सन् 2000) तक आते-आते बदल गईं और इस पुस्तक के समाहार में साहित्य पर छाये संकटों के अंतर्गत अपसाहित्य और उपसाहित्य तथा बाज़ार, सत्ता और साहित्य के नये समीकरणों की चर्चा उन्होंने की है। लेकिन, आज सहस्राब्दी के इस दूसरे दशक के आरंभ में भी हिंदी गद्य को लेकर कुछ सवाल जीवित और जीवन्त हैं। सबसे पहला सवाल यह है कि कविता के साथ गद्य का जो प्रतिद्वंद्वीय रिश्ता आधुनिक युग के आरंभ में बना था आज उसकी स्थिति क्या है? गद्य को कविता से संकट कहाँ तक वास्तविक है? उल्टे क्या यह सोचने योग्य बात नहीं कि गद्य ने अपने उदय काल से ही कविता के लिए संकट खड़े किये हैं, चुनौतियाँ दी हैं और गद्य के ही कारण कविता का रूप बदला। यह गद्य की ही साम्राज्यवादी प्रवृत्ति है जिसका जवाब देने के लिए और अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए सदियों से छन्दोबद्ध कविता आधुनिक युग में आकर मुक्त और छंदमुक्त बनी। गीतिनाट्य और चंपू काव्य के रूप में पद्य और गद्य का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व एक ज़माने से चला आ रहा था लेकिन सहसा 'खुल गए छन्द के बंध' की घोषणा की ज़रूरत क्यों पड़ गई? छन्दों के बंधन से मुक्ति की यह उत्सवधर्मी प्रवृत्ति आज की कविता की नियति बन चुकी है। आज की कविता बहुलांश में मुक्तछन्द ही नहीं छंदमुक्त भी है। आज कविता परिच्छेदों और अनुच्छेदों में लिखी जा रही है। इसे कवि की असमर्थता तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसे प्रयोग करने वाले त्रिलोचन ने छंदोबद्ध कविता के भी श्रेष्ठ प्रतिमान प्रस्तुत किए हैं। यह सवाल ठीक है कि गद्य विभिन्न विधाओं में बँटा हुआ है— कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, आत्मकथा, रिपोर्टाज आदि से अलग क्या 'विशुद्ध गद्य या Pure prose' जैसी चीज़ हो सकती है? लेकिन इसका जवाब

खोजने से पहले एक और सवाल उठता है कि इस 'विशुद्ध गद्य' का स्वरूप क्या होगा ? क्या इसका अर्थ विषयहीनता या निर्विषय होना है ? गद्य अपनी प्रकृति से देशकालबद्ध होता है। कविता देशकाल मुक्त हो सकती है, मगर गद्य नहीं। 'जुही की कली' का देशकाल संदर्भ क्या है ? 'जागो फिर एक बार' शीर्षक से निराला जी ने दो कविताएँ लिखीं उनमें से एक गुरु गोविंद सिंह के संदर्भ के कारण देशकाल से बँधी है मगर दूसरी कविता प्रकृति-पुरुष के संदर्भ में देशकालातीत है। क्या गद्य की कोई भी विधा देशकालातीत और विषयमुक्त हो सकती है ? 'आलोचना' में कई वर्ष पूर्व गिरिजाकुमार माथुर का एक लेख छपा था जिसमें सुमित्रानंदन पंत की कविता 'परिवर्तन' पर उन्होंने एक टिप्पणी की थी कि इस कविता का अनुवाद किया जाए तो किसी भी लक्ष्य भाषा में अनूदित पाठ का सारतत्त्व क्या हासिल होगा- कुछ विशेषण बार-बार रूप बदल कर लौटते हुए! यह छूट कविता को ही हासिल है कि वह 'बोले' बहुत मगर 'कहे' बहुत कम- लेकिन गद्य विषयवस्तु और यथार्थ से इस तरह कन्नी काटकर नहीं निकल सकता। यहाँ उदाहरण लिया जा सकता है 'नदी के द्वीप' कविता और उपन्यास का। उपन्यास के रूप में इसके तथ्यगत विवरणों पर इतने सवाल उठे कि अज्ञेय को 'आत्मनेपद' में बताना पड़ा कि मेरे चार पात्र, पात्र नहीं संवेदनाएँ हैं। सवाल है कि क्या केवल संवेदनाओं के सहारे गद्य लिखा जा सकता है ?

हिंदी गद्य की गद्यतन स्थिति : निर्बन्ध विचरण बनाम अंतर्पाठीयता : आज का हिंदी गद्य विभिन्न विधाओं की सुविभाजित सीमा रेखाओं को तोड़कर एक सर्वातिशयी रूप धारण कर चुका है जिसका एक रूप अंतर्पाठीयता (Inter-textuality) के स्तर पर परिभाषित किया जा रहा है। कई ऐसे गद्य-रूप हैं जो तयशुदा सीमाओं में नहीं बँधते जैसे 'कस्तूरी कुण्डल बसै' को स्वयं उसकी लेखिका द्वारा 'आत्मकथात्मक उपन्यास' कहा जाना, या 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' का आधार-तंत्र ही इतना आवेगपूर्ण-आत्मीय संलग्नता (Involvement) के साथ बुना गया है कि इसमें इतिहास जैसी रूखी-सूखी तथ्यपरकता पीछे छूट गई है। यह एक ममतापूर्ण हाथों से बुना गया स्वेटर लगता है जिसमें ताना बाना तो है मगर उलझन नहीं है, जिसमें ऊष्मा है, कोमलता है, उपयोगिता है और सौंदर्य है। अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' अंतर्पाठीयता का सुंदर उदाहरण है जिसमें कविता है, डायरी है, पत्र है, जिसकी नायिका खुद अपनी ही स्वीकारोक्ति के अनुसार 'कोटेशन' बोलती है। नाटक तो अपने आरंभ से ही गीत-प्रगीत युक्त रहे। काव्यात्मक गद्य के एक से एक सुंदर उदाहरण हिंदी गद्यकारों ने प्रस्तुत किए हैं। तात्पर्य यह कि आज की तारीख में गद्य और कविता ही नहीं, गद्य की विभिन्न विधाओं में भी पारस्परिक संबंध इतना प्रगाढ़ हो चुका है कि यह एक-दूसरे के क्षेत्र की सीमाओं को नकारता चल रहा है।

संपर्क :

प्लॉट नं. 311, गुलमोहर पार्क, लिंगमपाल,
हैदराबाद- 500019, मो. 9391092053
Email: shashi1948mudiraj@gmail.com

एक एंथ्रोपोलॉजिकीय कहानी का चक्रचिह्न : वांगेय राघव की 'गदल'

रमेश कुंतल मेघ

'गदल' को सन् 60 से पूर्ववर्ती संकल्प में क्यों शामिल किया जाना चाहिए; किबां अब तो अधिष्ठापित भी किया जाता है— 'उसने कहा था', 'भेड़िए', 'आकाशदीप', 'कफ़न' व 'तीसरी कसम उर्फ मारे गाए गुल्फाम' की श्रेणी में? सन् 1915 से सिखी-प्रजातीयता से यह दिशा चंद्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा शुरू हुई थी। 'गदल' (1955) में गुर्जरों का एक कबीलाई समाज है जिसमें राजस्थानी परिवेश में प्रेम की कई पतों वाली पूर्वाधुनिकता है। इसकी पहली सही परख शिवदान सिंह चौहान ने की थी।

हम सन् 1955 में लिखी गई गदल को विशाल कबीलाई व आंचलिक फलकनुमा उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' (1957) का पूर्वाभ्यास मानते हैं। तदपि सामंतीय तथा पूँजीवादी उत्पीड़न का खौफ़नाक एवं बर्बर पक्ष विशेष रूप से दो तीन थीमेटिक शब्दों (कुलच्छनी, कुलबोरनी, जगहँसाई) में, एवं उपनिवेशी व्यवस्था के भी अंतर्गत कानून और इंसाफ (दारोगा द्वारा रिश्वत लेना, पुलिस द्वारा छोटी-सी स्थिति में बेसब्री से गोलियाँ दागना) के ढोल की पोल द्वारा चक्रचिह्नित होती है। टुक मानें तो प्रमुख नायिका गदल आधुनिक नारी सशक्तिकरण की तेजस्विनी तथा नारी-स्वभिमान की गुरिल्ला लड़ैतिनी के रूप में समसामयिक भी हो जाती है। यही उसकी सार्थकता का प्रखर ध्रुवांत है।... बकलम लेखक "गदल उस बाह्य का ही चित्रण नहीं है। उसमें एक स्त्री का हृदय बोलता है। मैं भावपक्ष का अनुरागी हूँ; मनुष्य ढूँढता हूँ।... चरित्र को व्यवस्था में से ऊपर लाने का पक्षपाती हूँ।" अतः 'गदल' की गदल एक आदिम गजल है।

गदल पैंतालीस साल की विधवा है। उसके बेटों में बड़ा निहाल तथा छोटा नरायन है। पचास साल का डोड़ी गूजर को अब उसने अपना मान लिया। अब उसका (घर में) कौन है? डोड़ी की बहू बच्चे मर गए हैं। वह भी अकेला रह गया है। वह भौजाई गदल के सहारे है। वह भौजाई गदल के सहारे रह गया। सो ब्याह नहीं किया। उसने पत निभाई।

कथा में नाते-रिश्तेदारी की ढीलम-ढीली बुनाई वाला खाना बंदोशी गुजरों का एक कबीला है जिसकी खारी और लौहारों की उप-शाखाएँ हैं। इनमें अमूमन तेल पिलाई लाठियों के जोर से दुल्हनियाँ लाई-लौटाई- बुलाई जाती हैं।

सो अब गदल को किसी की भी परवाह नहीं है। वह अपने लड़कों-बहुओं की गुलामी नहीं करेगी। अतः वह पेट पालने के लिए पराई ड्योढ़ी लाँघती है और लौहारे गूजर मौनी के यहाँ बैठ जाती है। मौना रडुवा (दूसरा) है। इस तरह विधवा गदल, मृतक (पहला) पति मुन्ना,

रडुवा (दूसरा) पति मौनी, देवर डाड़ी और बड़ा बेटा निहाल-ये पाँच पूरा सीनेरियों अभिनीत करते हैं। निहाल अपनी अम्मा गदल को कुलच्छनी कुलबोरनी मानकर धिक्कारता है जिससे जगहँसाई हुई है। इस तरह कबीलाई, सामंतीय, उपनिवेशी ये तीनों सामाजिक सिस्टम गुत्थम-गुत्थ होकर कहानी को एंथ्रोपोलाजीय-समाजशास्त्रीय दस्तावेज बना देते हैं। देह के माध्यम से सटीक नृतात्त्विक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं कि यहां देह भी पवित्रतावादी नैतिकता तथा सामंतीय वंशानुगामी शील-प्रबंधों की अवधारणाएँ गैर-हाजिर हैं। फलतः कहानी की थीम में जो प्रस्फुटित होता है वह 'अस्तित्व' है, 'सारत्व' तो कम ही पल्लवित-पुष्पित होता है।

कहानी का छोटा सा फलक बेहद प्रौढ़ तथा गहरा है। रांगेय राघव के 'फील्ड वर्क' की गवाही देता हुआ कहानी को समाजविज्ञानी दस्तावेज का प्रमाण भी बनाता है। एक ओर गदल तथा देवर डाड़ी के अव्यक्त, निगूढ़ और आभ्यांतरिक प्रीति का महाभाव है (एक विधुर तथा विधवा के बीच) दूसरी ओर गदल तथा मौनी के बीच अपने-अपने अधिकारों तथा बराबरी का आत्मसंघर्ष छिड़ा है (एक रडुवा और विधवा के बीच)। अथवा तीसरी ओर बिरादरी के सनातन नेमों एवं प्रांत की सरकार के वक्ती कानूनों के बीच भी त्रासद संघर्ष जारी है।

सो छोटे से फलक के दो ही वर्ण हैं- 1. बिरादरी के नेम से जहाँ परिवार-धुरी में जहाँ सामंतीय पवित्रतावादी यौन नैतिकता नहीं है, इसलिए गदल का घर छोड़कर नए मर्द के पास चले जाना कतई अनैतिक नहीं है। 2. राज (उपनिवेशीय-पूँजीवादी) का कानून है कि डाड़ी के अंतिम कारज में पच्चीस से ज्यादा लोग नहीं हो सकते किंतु गदल के लिए कई पंतते जीमाना भावनात्मक एवं धार्मिक कृत्य है। इसके लिए वह एक जोरदार लड़ाई तक लड़ती है और वीरगति को प्राप्त होती है।

अतः 'गदल' की गदल एक आदिम गजल है। गजल एक गुरिल्ला गदर है। रांगेय राघव ने ठीक ही कहा है कि 'गदल फिर भी गदल है और गदल ही रहेगी।'

आखिर 'गदल' को लेकर मुड़-मुड़कर इतना संदर्शन क्यों? क्यों 'नई कहानी' आंदोलन ने परंपरा की परिपाटियों से निकलने का सबसे मुश्किल मोड़ खोजा और यह अनुष्ठान 'गदल' में मिल गया।

तो होगा यही कि जब नारी-सशक्तिकरण क्रियान्वित होगा तो वह केंद्रापसारी होगा तथा मातृसत्ताक जड़ों से प्राणरस पाएगा। ऐसे में भला पवित्रतावादी देह तथा खून की कुल मर्यादा वाले पुरुष प्रधान नियमों की भी यह कहानी- उल्लंघना करेगी ही। यह इसका कृति का समाजवैज्ञानिक तर्कशास्त्र है। नारी क्या है? इस कहानी में इसी की पड़ताल हुई है। रिवाजों की शव-परीक्षा जो हुई है। उभरे नतीजे हैं- धुंधुवाती पात्र-मशाल गदल है। वह एक गदर है, एक गजल है। गोली लगने के बाद मरणासन्न गदल का द्रौपदी संदेश है देवर के लिए कि 'जो एक दिन अकेला न रह सका उसी की....'। यह अंतिम टूटा वाक्यांश का एक क्षण ही समय तथा काल को अतिक्रान्त कर जाता है। अस्तु।

अब छोटी सी बात कथा-तकनीक की भी। कहानी का उद्भव भी नाट्य से हुआ है- दृश्य तथा संदर्शन से। यहाँ वाचिक बनाम आंगिक आहार्य का द्वैक्य चालू होता है। प्रकथन के अंतर्गत निरूपण और विवरण; कार्य के अंतर्गत वृत्तांत और संवाद। जब प्रवाचक (नैरेटर) सूत्रधार बन जाता है तब पात्र और संवाद दूरगामी होते जाते हैं। प्रवाचक के विधायक होने पर स्थानिक रंग तथा वातावरण छा जाते हैं, आत्मकथात्मक तथा कहाऊ डिस्कोर्सों में। अमूमन पात्र और संवाद, प्रवाचक विवरण-निरूपण अर्थात् परिप्रेक्ष्य के बीच समरसता समायोजन होना चाहिए। रांगेय राघव ने प्रेमचंद- अमृतलाल नागर की धारा में 'गदल' द्वारा भी अभिनव हस्ताक्षर किये हैं। पाइंदाब्बादू!!

संपर्क:

फ्लैट सं. 3 (भूतल) स्वात्तिक विहार, फेज-III, मनसा देवी कामप्लेक्स,
पंचकूला- 134109 (हरियाणा), मो. 09780774224

नकबेश्वर और अरमानों की खिड़की

अरविन्द कुमार

तब मैं चंद्रकिशोर जायसवाल को नहीं जानता था। लेकिन मैं धर्मयुग का एक पाठक जरूर था। उसी दौरान धर्मयुग के नववर्षांक अंक 1979 में छपी एक कहानी पर मेरी नजर गयी। कहानीकार थे चंद्रकिशोर जायसवाल और कहानी थी-‘नकबेश्वर कागा ले भागा’। उस समय कहानी की अपनी समझ के अनुसार मैंने उसे पढ़ा था और धर्मयुग के उस अंक को अपने फाइल में रख दिया था। वह अंक आज भी मेरे पास है जो अब एक धरोहर हो गया है।

इस बीच समय गुजरा। भागलपुर आने पर मैं चंद्रकिशोर जी के संपर्क में आया। उनकी कहानियों से नया परिचय हुआ और ‘जंग’ तथा ‘मर गया दीपनाथ’ जैसी कहानियों के साथ ‘नकबेश्वर कागा ले भागा’ को भी दुबारा पढ़ने का मौका मिला। अब तक कहानी को लेकर मेरी एक समझ भी बन चुकी थी। चंद्रकिशोर जायसवाल एक संकोची, लजीले, मितभाषी व्यक्ति हैं, यह मैंने पहली बार जाना लेकिन जब मैंने इस पर गौर करना शुरू किया तो मैं चौंका। ‘जंग’ के भुनो बाबू भी तो क्रांतिकारी होते हुए संकोची, अनुशासनप्रिय, सहज तथा मितभाषी हैं। मैं ‘नकबेश्वर कागा ले भागा’ को दुबारा पढ़ते हुए भी चौंका था। दरअसल यथार्थ के इस ताने-बाने की ओर मेरा ध्यान पहले क्यों नहीं गया था। ‘नकबेश्वर कागा ले भागा’ का घेघू भी तो एकदम सहज है। अपनी कल्पना में बसी रनिया के नहीं मिल पाने की पीड़ा उसके भीतर कहाँ किसी गुस्से या खिड़की को जन्म देती है? यानी जीवन को सहज भाव से स्वीकार लेना जीवन की सबसे बड़ी चुनौती है। रनिया उसके मन में बसी है, वह कानी है तब भी उसे वह चाहता है, जबकि रनिया को घेघू का घेघा पसंद नहीं है। पर इससे उसके पैर किसी गलत कदम की ओर नहीं बढ़ते। जीवन के इस यथार्थ को वह सहजता से स्वीकार कर लेता है कि उसे घेघा है और यह घेघा ही उसकी पहचान है, इसे वह अपने जीवन से अलग नहीं कर सकता। यह उसकी अस्मिता है जो उसके मैं को क्षरित नहीं करती। मैं को बेचकर वह किसी रनिया को पाने की कल्पना भी नहीं कर सकता।

यह कहानी 1979 की है जब हिंदी में एक नये यथार्थ का सृजन हो रहा था। कमलेश्वर ने सारिका में समांतर कहानी आंदोलन के माध्यम से कई नये लोगों को जगह दी थी जिनमें इब्राहिम शरीफ, कामतानाथ, मिथिलेश्वर, संजीव जैसे कथाकार थे। इन कथाकारों में अपनी अस्मिता की जहोजहद चल रही थी और उसी तरफ की कहानियां भी आ रही थीं। संजीव अकेले ऐसे कथाकार थे जिन्होंने अपनी जमीन बदल ली थी और सामाजिक अस्मिता की

कहानियां लिखने लगे थे। चंद्रकिशोर जायसवाल सामाजिक अस्मिता की इस जमीन पर थोड़ा बाद में आये जब उन्होंने 1992 में 'जंग' जैसी कहानी लिखी और फिर 1993 में 'मर गया दीपनाथ' जैसी कहानी। कोई भी सामाजिक यथार्थ एक साथ सभी रचनाकारों में स्वीकृत नहीं होता इसलिए चंद्रकिशोर जायसवाल ने आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में 'नकबेसर कागा ले भागा' जैसी एक लोकोक्ति आधारित कहानी लिखी पर कहानी का निर्माण उससे बिल्कुल हटकर किया।

चंद्रकिशोर जी की यह कहानी जब 'धर्मयुग' में छपी थी उस समय हिंदी में दो ही पत्रिकाएँ शीर्ष पर थीं— एक 'सारिका' तथा दूसरी 'धर्मयुग'। धर्मवीर भारती उस समय 'धर्मयुग' के यशस्वी संपादक माने जाते थे और इसका प्रमाण यह था कि उन्होंने न सिर्फ कुछ अच्छी कहानियां हिंदी को दीं बल्कि कहानी पर नियमित बहस चलाने का भी काम किया। इसी क्रम में जब उन्होंने 'ऐय्यास प्रतों का विद्रोह' नामक टिप्पणी छपी तो पूरे कथा जगत में भूचाल आ गया। 'नकबेसर कागा ले भागा' भी प्रकाशित होने के बाद चर्चा में आया और आम पाठकों का चंद्रकिशोर जायसवाल नामक कथाकार से परिचय हुआ। पूर्णिया जैसे एक छोटे शहर (तब तो यह एक कस्बा ही था) को कथा की जमीन के लिए चुनना तथा उसे एक बड़े शिल्प में तब्दील कर एक महत्वपूर्ण कहानी बना देना, यह कोई आसान काम नहीं था।

कहानी का लोकेशन पूर्णिया स्टेशन है। स्टेशन से सटे भिखमंगों की एक बस्ती है जहां फूस या टीन की झोपड़ियां हैं। यहां शहर के सारे भिखमंगे एक साथ रहते हैं। आप कह सकते हैं यह पूरा इलाका ही उनका है पर ऐसे इलाके के बीच से भी कहानीकार एक कहानी निकाल लेता है। प्रायः लोग कहते हैं कि ऐसे इलाकों में कहानियाँ जन्म नहीं ले सकती क्योंकि रोटी का संघर्ष उनके जीवन में कोई कहानी छोड़ता ही नहीं। पर चंद्रकिशोर जायसवाल उसी इलाके से आते हैं जहां रेणु हुआ करते थे और रेणु ने भी अकहानी के दौर में अपनी कहानी में 'एक अकहानी का सुपात्र' लिखकर यह साबित किया था कि जीवन की कहानी हर जगह मौजूद होती है और एक रचनाकार चाहे

तो उसे बड़ी आसानी से एक कहानी में ढाल सकता है। इसीलिए 'नकबेसर कागा ले भागा' के प्रारंभ में ही कथाकार लिख देता है कि 'काने, अंधे, लूले-लँगड़े, अपंग-अपाहिज, वक्रांग-विकलांग और कोढ़ ग्रसित रोगियों की इस बस्ती में जीवन की एक अंतःसलिला भी बहती है। अजस्र, अबाध!' जाहिर है कि यदि जीवन की अंतःसलिला है तो कहानी भी होगी ही। कहानीकार यह कहना चाहता है कि जीवन की खुशी का संबंध जीवन की संपन्नता या विपन्नता से नहीं है। वह फिर लिखता है— 'रात के उतरते ही एक साथ बीसों चूल्हें जल उठते। लगता, किसी मैदान में सेना ने एक पड़ाव डाला है, अपने पूरे लाव-लश्कर के साथ।' इसका एक प्रमाण आगे भी है— 'भीख मांगती छोकरियाँ बिरहिन के बारहमासा गाती हैं। क्या चंचल चितवन मोहनी आँखों का विलास है? काली घटाएँ बस घुंघराली रेशमी अलकों में भ्रमण करती हैं? मन की भाषा का गुलाब केवल गुलाबी होठों पर खिलता है?... खबरदार! कोई मर्द इधर न आने पावे। सावन का इंजोरिया है, छोकरियाँ जटा-जटिन खेल रही हैं।'

कहानी शुरू में ही एक दृश्य निर्मित करती है। एक चाक्षुष बिम्ब आँखों के सामने उभर आता है। वैसे कहानी का क्षेत्रफल बहुत बड़ा नहीं है। स्टेशन, स्टेशन के पास की वह बस्ती, दुर्गा थान, कचहरी और रास्ते में पड़ने वाले कुछ मुहल्ले। बस इतने ही दूर जाती है घेघू की हाथ गाड़ी। यह उसका प्रतिदिन का कार्य है। अपने को अपाहिज बनकर हाथगाड़ी में बैठ जाना और छोटे नाम के लड़के से उसे खिंचवाना, फिर दुर्गाथान पहुंचकर भीख मांगना। भीख नहीं मिलने पर बददुआएँ देना, गालियां बकना और एक कमाई कर लौट आना। फिर शाम को दारू और चखना लेकर तरन्नुम में चले जाना। कथाकार लिखता है— 'वह अपनी जमींदारी में तहसील के लिए बाहर निकलता। अपनी झोपड़ी से मोहल्ले होते हुए कचहरी तक की उसकी टेढ़ी-मेढ़ी यात्रा उसके लिए एक उल्लास-नृत्य की तरह, एक रसीले संगीत की तरह मोहक थी।'... पर दूसरों के लिए यह जमींदारी आतंक से कम नहीं थी। क्योंकि 'भिखमंगों की बददुआओं से औरतें जितना घबराती हैं, देवताओं के 'तथास्तु' से उतना खुश कहाँ हो पाती होंगी वे। और घेघू

की डायन आँखों में तो जैसे श्राप नाच उठता है— पैसे दो, नहीं तो अपने लिए और बाल बच्चों के लिए यह घेघा लो।' इसीलिए औरतें उसके हिस्से का भात-रोटी अलग कर देतीं, घर के मर्द जेब में दसपैसी और पंचपैसी डालकर दरवाजे पर आसन जमाते। घेघू सूरज की तरह रोज उगता। मोहल्ले के व्याकरण में घेघू का गैरहाजिर होना एक अक्षम्य दोष था। हालाँकि इस रोज की हाजिरी से लोग डरते भी थे— 'हे पवनसुत, इस घेघू से बचाना, हनुमान चलीसा का पाठ करूँगा।' और वह बच्चों को डराने के काम भी आता था— 'रो मत नूनू नहीं तो घेघू आएगा और उठाकर ले जाएगा।'... हालाँकि विडम्बना यह है कि दूसरों को बददुआ या श्राप देने वाला या डराने वाला घेघू खुद अपनी जिन्दगी को श्रापग्रस्त होने से बचा नहीं पाया था। रनिया को लेकर रोज एक सपने खरीदने वाले घेघू को एक दिन अपने ही हाथों अपने सपनों या सपनों के साथ जुड़ी कामना या लालसा की हत्या करनी पड़ी थी।

घेघू ने जब रनिया के जूड़े में खुंसे फूल को देखा था, वह उसे पाने के लिए बेताब हो उठा था। जब से रनिया इस बस्ती में आयी थी उसने उसके ख्यालों में अपनी जगह बना ली थी। घेघू को सपने आने लगे थे कि रनिया एक दिन उसकी वाग्दत्ता बनेगी। घेघू को इन सपनों से एक नया भविष्य दिखाई देने लगा था— वह, रनिया, बच्चे और एक गृहस्थी। सपने देखने का अधिकार तो सबको होता है, वैसे ही यह अधिकार घेघू का भी था। पर सबके सपने प्रतिफलित कहां होते हैं? घेघू के शहंशाह मन को भिखारी बना देने की सूत्रधार रनिया ही बन जाएगी, यह कहां सोचा था घेघू ने। वह तो सिर्फ सपने देख रहा था, फल की चिंता उसे कहां थी। बल्कि यह कहा जा सकता है कि वह फल को लेकर आश्वस्त था इसीलिए तो यह गाता रहता था—

'तोरे झाँझर घुँघटवा के पार गोरिया,

चमके चंदा-सा मुखड़ा तोहार गोरिया।'

वह अपने शागिर्द छोटे से कहता— 'मेरा ब्याह करने को जी चाहता है।' छोटे के कहने पर कि 'इस उमर में, चाचा?' वह कहता— 'अभी तो मेरी डोर बहुत मजबूत है रे छोटे, अभी क्या हुआ है? एक बाल भी सफेद दिखता है तुम्हें?' और फिर घेघू पंडित की बात भी बताता कि

उसका हाथ देखकर मधुबनी चौक के पंडित ने कहा था कि उसके भाग्य में घर-द्वार भी है, बाल-बच्चे भी। और यह भी कहता कि रेखाएँ झूठ नहीं बोलतीं। यानी अपना भविष्य उसने लगभग गढ़ लिया था। इसीलिए वह छोटे को समझाकर रनिया के पास भेजता है और बार-बार हिदायत देता है कि उसे रनिया से क्या-क्या कहना है।

पर सच्चाई यह है कि रेखाएं सब कुछ नहीं कहतीं। सपनों को पूरा करने के लिए सपनों की हकीकत भी चाहिए। अगर किसी का प्यार चाहिए तो वह दूसरे के माध्यम से प्रेषित नहीं किया जा सकता। घेघू का अपने प्यार के इजहार के लिए छोटे को मध्यस्थ बनाना सपनों के ग्रहण की पहली कड़ी है। किसी के द्वारा भेजा हुआ नकबेसर या कोई अन्य पदार्थ को रिझाने का माध्यम नहीं बन सकता। इसीलिए वर्षों से रनिया या किसी अन्य के लिए जुगाकर रखा गया नकबेसर बेकार साबित हो जाता है। लेकिन चूँकि सपने अंधे होते हैं, कोई तर्क नहीं खोजते, इसीलिए घेघू कानी रनिया से ब्याह रचाने के लिए व्यग्र है। इसलिए छोटू के यह कहने पर कि 'वह तो कानी है, चाचा', वह कहता है— 'लँगड़ी से तो अच्छी हुई।' हालाँकि यही घेघू अपने सपनों के टुकड़े होकर बिखर जाने के बाद अपना सोचना बदल देता है और कहता है— 'उस कानी के लिए अपना घेघा कटवा दूँ क्या? बाबा की दी हुई एक यही दौलत तो है अपने पास।' घेघू वर्षों से संजोए अपने अरमानों को इतनी जल्दी झटककर अपनी नियति या अपने भाग्य को स्वीकार लेता है कि आश्चर्य होता है।... वह उठा और हाथ में नकबेसर लिए झोपड़ी के बाहर मैदान की ओर निकल गया। करीब सौ-सवा सौ कदम चलकर वह रुका और अपनी पूरी ताकत से हाथ घुमाते हुए नकबेसर के पास तालाब की दिशा में फेंका और बगैर मालूम किये कि नकबेसर तालाब में गिरा, या झाड़ियों के बीच, वह तेजी से वापस मुड़ गया।'

कथाकार लिखता है कि तब उसकी मुट्ठी में सिर्फ नकबेसर ही बंद नहीं था बल्कि उसके साथ उसके अरमान, उसकी इच्छाएँ, उसके सपने, उसका भविष्य सब कुछ था जिसे उसने बिना कुछ सोचे अपने जीवन से निकल जाने दिया था। उसने स्वीकार लिया था कि जीवन का यथार्थ

यही है, जहां हर कुछ अपने हिसाब से नहीं चलता। घेघू एक भिखारी होकर भी इस सत्य से अनजान नहीं रहना चाहता। घेघू चूँकि स्वाभिमानी है, इसलिए मधुबनी चौक के पंडित की झूठी तसल्ली उसे विचलित नहीं करती और वह अपने अतीत को ही अपने भविष्य के रूप में स्वीकार कर लेता है। यानी उसकी जिजीविषा कम नहीं होती, वह हर हाल में जीना चाहता है, रनिया के साथ भी और रनिया के बाद भी।

कहानी में कुल तीन पात्र हैं— घेघू, छोकरा छोटे और रनिया। कहानी बस दो ही पात्रों के संवादों के सहारे चलती है। घेघू और छोटे ही कहानी का संवादात्मक निर्माण करते हैं। रनिया से कहीं कोई सीधा संवाद कहानी में नहीं है। रनिया का चरित्र सिर्फ सूचनात्मक संवाद के द्वारा गढ़ा गया है जहां वह सपनों की रानी भी है, कानी भी है, चटोरी भी है और छिनाल भी। कहानी में जगह-जगह भावात्मक संवाद भी हैं जो कहानी को उसके निर्माण की ओर ले जाते हैं। जब घेघू रनिया का इंतजार करता हुआ बिस्तर ठीक कर रहा होता है, उस पर साफ चादर डाल रहा होता है तो उसके मनोभाव कुछ वैसे ही हैं जैसे कोई कमनीय नायिका अपनी फूलों लदी देह लेकर उसके सामने प्रकट होने वाली है और जिसका एकमात्र भोक्ता वही होगा। पर जैसे ही रनिया का इंकार सामने आता है, घेघू में न जाने कितनी तब्दीलियां आ जाती हैं— भूचाल, हाहाकार और फिर मलबों का ढेर। जो सपनों का महल खड़ा हो चुका था, वह देखते-देखते धाराशायी हो जाता है।

पर यहाँ कथाकार टूटते घेघू को बचाने के लिए छोटे की एक अलग भूमिका गढ़ता है जहां छोटे घेघू का सिर्फ सहायक ही नहीं होता बल्कि उसका अभिभावक भी हो जाता है। जब छोटे रनिया के पास से हारकर लौटता है और घेघू को उदास देखता है तो वह कहता है— ‘भगवान जो करता है वह अच्छा ही करता है। रनिया तो बदमाश है चाचा, वह दस घरों की जूठन खाने वाली है। तुम्हारे एक घर से भला उसका गुजारा हो। वह बड़ी छिनाल है। बस यही समझो चाचा कि भगवान ने तुम्हें बचा लिया। वह सुख-दुःख में कभी काम नहीं आती।’ छोटे चाहता है कि किसी भी तरह घेघू का ध्यान रनिया से हट जाय। इसलिए

वह फिर कहता है— ‘और कानी भी तो है। सुबह-सुबह उठकर उसकी कानी आँख देखोगे? तुम इतना भी नहीं जानते हो कि इससे अशुभ होता है?’ और तब घेघू सचमुच छोटे की बातों के आगे आत्मसमर्पण कर देता है और कहता है— ‘साली बददुआ देती है डायनों की तरह। ऐसी औरत से क्या शादी की जा सकती है? बोलो, छोटे?’

कहानी में नकबेसर भारतीय संस्कारगत जीवन का प्रतीक बनकर उभरा है। विवाह के समय औरत नकबेसर या नथ नहीं पहने तो विवाह की पूर्णता नहीं होती। नथ एक तरह से बंधन का प्रतीक है जो विवाह के बाद उसकी जिन्दगी में जुड़ता है और जिस बंधन को उसे आजीवन निबाहना होता है। किसी औरत को नथ पहनाना यानी उसे अपने जीवन में ले आना, उसे अपना बना लेना। सामन्ती समाज में यह नथ आधिपत्य का प्रतीक रहा है जो कालान्तर में सहजीवन के प्रतीक में तब्दील होता चला गया।

दरअसल इस कहानी का पूरा ताना-बाना नकबेसर और गलकण्ड के इर्द-गिर्द घूमता है। जहां अन्ततः गलगण्ड जीतता है, नकबेसर की हार होती है। घेघू की जिन्दगी इसी गलगण्ड के इर्द-गिर्द चलती है, नकबेसर भी इसी गलगण्ड की कमाई से बना है। जाहिर है कि नकबेसर गलकण्ड को पराजित नहीं कर सकता। घेघू पहले तो दोनों के साथ रहना चाहता है पर जब दुविधा होती है तो वह अपना गलगण्ड ही चुनता है। गलकण्ड है तो जीवन है, यही गलगण्ड उसके दैनन्दिन जीवन का आधार है जिसे लेकर वह शहर की गलियों में घूमा करता है और जो उसकी पहचान भी है। क्या नकबेसर के लिए वह अपनी पहचान खो दे?

कहानी का कालखण्ड बहुत ही छोटा है, उतना ही जो एक कहानी के लिए होना चाहिए। कहानी न तो कालखण्ड के फैलाव के कारण बिखरती है और न ही स्थान के फैलाव के कारण। कहानी घेघू की जिन्दगी में छोटे के आने के बाद शुरू होती है और रनिया से मोहभंग के बाद खत्म हो जाती है। इसी तरह कहानी पूर्णिया स्टेशन की उस भिक्षुक बस्ती से निकलती है और शहर का चक्कर लगाकर वापस वहीं लौट आती है। कहानी की इस यात्रा में सिर्फ घेघू और छोटे साथ होते हैं, रनिया तो कालान्तर में आती है

और फिर निकल भी जाती है। घेघू और छोटे बने रहते हैं। वे कहानी के स्थायी सूत्र हैं, रनिया एक पतली कड़ी है जो नकबेसर के साथ आती है और गायब हो जाती है। जब नकबेसर नहीं रहेगा तो रनिया कहां से रहेगी! यहां नकबेसर जीवन के भावनात्मक उल्लास का प्रतीक है जिसे घेघू पाना चाहता है। उसके पास पैसे की कमी नहीं है, और जब तक यह घेघा रहेगा कमी होगी भी नहीं पर भावनात्मक खुशी? यह तो किसी अन्य से ही उसे मिल सकती है। घेघू के जीवन में यह अन्य रनिया है जिसके अपने जीवन में आने की प्रतीक्षा वह कर रहा है। घेघू के भीतर जीवन जीने की चाहत है, वह अन्य भिखमंगों से अलग है, इसलिए कहानी में इसकी एक पूरी तैयारी भी है। लेकिन यह खुशी जब उसे नसीब ही नहीं है तो रनिया आएगी कैसे?... पर तब भी घेघू शांत है, वह न तो अवसाद में जाकर अपने जीवन के अंत के बारे में सोचता है और न ही रनिया को लेकर आक्रामक होता है। यह बीसवीं सदी के आठवें दशक का यथार्थ है जहां प्रेम बाजारू नहीं बना है और न ही वस्तु नहीं तो रनिया बाकी जीवन के लिए अपनी हंसी खो देती या फिर अपने जीवन से ही मुक्त हो जाती। पर यहां दोनों की मुस्कुराहट बनी रहती है— घेघू की भी और रनिया की भी। इसीलिए कथाकार कागा का कोई दृश्य नहीं गढ़ता बल्कि यों कहें कि कहानी में कागा कहीं आता ही नहीं कि वह इस मुस्कुराहट पर चोट करे और नायिका के साथ-साथ नायक की मुस्कुराहट भी छीन ले। यहां तो मुस्कुराहट नायिका ही छीनती है तथा नकबेसर नायिका को

रिझाने में असफल होने के बाद स्वतः ही बेकार हो जाता है। आप यह कह सकते हैं कि नकबेसर अरमानों की खिड़की से नीचे गिरकर चकनाचूर हो जाता है। यहां नकबेसर किस्मत है और स्थितियां कागा जो गोरी की सुरतिया से गोरी की पिरितिया की आस लगाये बैठे घेघू के सारे अरमान लेकर उड़ जाती हैं।

यह कहानी आज से पैंतीस वर्ष पहले की है। तब से कहानी का यथार्थ बहुत बदला है। खुद चंद्रकिशोर जायसवाल के यहां भी यह यथार्थ बदला हुआ है क्योंकि खुद उन्होंने प्रेम के इन मनोभावों को लेकर कोई कहानी शायद दुबारा नहीं लिखी। 1979 की इस कहानी के बाद उनकी जिस कहानी ने पाठकों का ध्यान खींचा, वह 1992 में हंस में प्रकाशित कहानी 'जंग' थी जिसके केन्द्र में एक ऐसे समाज की परिकल्पना थी जहां आर्थिक विषमता नहीं हो न ही जहां वर्णवादी विभेद हो। और इसके नायक थे आजादी की लड़ाई के एक स्वतंत्रता सेनानी भुनो बाबू जो अपनी वृद्धवास्था में भी राजनीतिक आजादी के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक आजादी की लड़ाई का समर्थन कर रहे थे। फिर भी 'नकबेसर कागा ले भागा' अपने ढंग की अलग कहानी है। जब कहानी में पठनीयता का संकट बढ़ रहा हो, कहानी शुष्क और रूखी हो रही हो, बल्कि यूं कहें कि वह अपनी लय खो रही हो तो ऐसे में ऐसी कहानी की आज बेहद जरूरत है जहां पाठक स्वतः ही उसकी ओर खिंचा चला जाए। इस कहानी में मनोभावों के जो विविध रंग हैं उनकी जो बुनावट है, वह लाजवाब है। ऐसा शिल्प आज दुर्लभ है।

संपर्क :

502, महेश अपार्टमेंट

बड़ी खंजरपुर, भागलपुर- 812001

रिपोर्ताज : अखरूप और पत्रपत्रा ज्योत्सना पांडेय

बीसवीं शताब्दी के लगभग तीसरे दशक में 'रिपोर्ताज' शब्द हिंदी गद्य के एक नवीनतम विधा के रूप में सामने आया। इस समय से पहले किसी भी भारतीय भाषा में इस विधा के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है। रामगोपाल सिंह चौहान इस विधा के उत्पन्न होने की परिस्थितियों और आवश्यकता की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए लिखते हैं- “द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव से अनेक समस्याएँ देश में उत्पन्न हो गई थीं, जिन्होंने हमारे जीवन को बुरी तरह झकझोर दिया था। लेखक भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके। उन्होंने जनता, उसके जीवन, उसके जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं से जीवित संपर्क स्थापित किया और उन पर छोटे-छोटे रिपोर्ताज लिखे जिनमें जनता द्वारा उन गंभीर परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति, साहस और मनोबल का प्राणवान स्वर मुखरित हुआ।”¹

आज तीव्रता से परिवर्तित हो रहे युग में जहाँ समाचारों की विविधता बढ़ रही है वहाँ रिपोर्ताज लेखक के लिए अवसर भी बढ़ते जा रहे हैं। आज जिस तरह समाज में मान्यताओं और मूल्यों को लेकर तीव्र परिवर्तन हो रहे हैं उसे साहित्य की अन्य कोई भी विधा आसानी से चित्रित कर अपने दायित्व का निर्वाह पूरी तरह नहीं कर सकती। लेकिन रिपोर्ताज विधा इन परिवर्तनों से कदम से कदम मिलाते हुए अपने साहित्यिक दायित्व को निभाने में पूरी तरह सफल रही है। शिवदान सिंह चौहान अन्य साहित्य रूपों की तुलना में रिपोर्ताज के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखते हैं- “ललित साहित्य सामाजिक प्रभाव और स्वतंत्रता प्राप्त करने का एक तीव्र अस्त्र है। लेकिन आज की समस्या का आज ही हल पेश करने में असमर्थ है। इसका प्रभाव युगों-युगों तक चलता है। दैनिक जीवन की विशिष्ट समस्याओं तक उसकी पहुँच नहीं होती। इसलिए आधुनिक जीवन की इस नयी द्रुतगामी वास्तविकता में हस्तक्षेप करने के लिए मनुष्य को नए साहित्यिक रूप विधानों को जन्म देना पड़ा है। रिपोर्ताज उनमें सबसे प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप विधान है।”²

‘रिपोर्ताज’ शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर सभी साहित्यालोचक एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान उसे फ्रांसीसी भाषा का शब्द मानते हैं तो कुछ अंग्रेजी का। डॉ. वीरपाल वर्मा अपने शोध ग्रंथ में रिपोर्ताज शब्द की व्युत्पत्ति से संबंधित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं- “एक ओर तो फ्रेंच में ‘रिपोर्ताज’ शब्द का प्रचलन था और दूसरी ओर अंग्रेजी के ‘रिपोर्टाज’ शब्द से हिंदी में ‘रिपोर्ताज’ शब्द व्युत्पन्न हुआ तथा तीसरी ओर रूस में पनपती हुई इस विधा के प्रभावी तत्वों के साथ ‘रिपोर्ताज’ शब्द भी रूस से आता हुआ दिखाई दिया और यहीं से भ्रम हो गया कि यह फ्रेंच से आया या रूस से। जबकि आया अंग्रेजी के ‘रिपोर्टाज’ से।”³

वस्तुतः आज 'रिपोर्ताज' शब्द पूरे यूरोप और रूस की यात्रा करते हुए अपनी प्रकृति और अर्थ विस्तार के साथ हिंदी में भी स्वीकृत हो चुका है और अपने मूल रूप में एक लंबे समय से प्रयुक्त होता आ रहा है। शुरुआती दौर में हिंदी के अनेक साहित्य समीक्षकों और रिपोर्ताज लेखकों ने 'रिपोर्ताज' शब्द के स्थान पर 'रिपोर्टाज'⁴, 'सूचनिका'⁵, 'तथ्यात्मक संस्मरण'⁶, 'तथ्यात्मक शब्द चित्र'⁷, 'आँखों देखी रपट'⁸, 'वृत्त निर्देशन'⁹ आदि शब्दों का प्रयोग कर इसका अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास तो किया लेकिन कोई भी शब्द अपने-आप में 'रिपोर्ताज' विधा को समाहित करने में सक्षम नहीं बन सका। इनमें से कुछ विद्वान इन शब्दों में से किसी एक का प्रयोग करते समय शायद स्वयं भी यह जानते थे कि उनकी दी गई संज्ञा इस विधा के लिए कहीं न कहीं सक्षम नहीं है इसलिए 'रिपोर्ताज' शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कोष्ठक में 'रिपोर्ताज' शब्द का भी प्रयोग कर लिया है। इस प्रकार हिंदी में रिपोर्ताज शब्द के बदले प्रयुक्त की गई संज्ञाओं की कमियों को ध्यान में रखते हुए 'रिपोर्ताज' शब्द को ही ज्यों का त्यों अपना लिया गया है।

आज रिपोर्ताज विधा एक साहित्यिक विधा के रूप में स्वीकृत हो चुकी है, किंतु यह विधा पत्रकारिता के बीच से गुजरकर ही हमारे सामने आई है। पत्रकारिता और साहित्य के क्षेत्र प्रायः अलग-अलग रहे हैं लेकिन यह भी सत्य है कि अपने विकास के लिए दोनों एक दूसरे पर निर्भर रहे हैं। रिपोर्ट और रिपोर्ताज दोनों का संबंध पत्रकारिता से है। पत्रकारिता के क्षेत्र में युगीन चेतना को दो स्तरों पर ग्रहण किया जाता है— पहला बौद्धिक स्तर पर और दूसरा संवेदनात्मक स्तर पर। जब रिपोर्ताज लेखक रिपोर्ताज लिखता है तो उसमें भाषा एक आयामी नहीं रहती बल्कि उसकी खबर में वे सभी तत्त्व शामिल हो जाते हैं जो काव्य और कथ्य में पाये जाते हैं। आज लेखक की संवेदना यथार्थ को एक जड़ परिस्थिति के रूप में नहीं देखती। यथार्थ आधुनिक संवेदना के लिए तभी यथार्थ होता है जब वह यथास्थिति को बदल रहा हो। ऐसे यथार्थ का वर्णन मनुष्य की परिस्थिति में परिवर्तन का ही वर्णन है। रिपोर्ताज में एक ओर तो स्थायी मूल्य आवश्यक तत्त्व के रूप में

रहते हैं वहीं दूसरी ओर सूक्ष्म-पैनी दृष्टि, साहसी प्रवृत्ति और विश्लेषण बुद्धि भी अपना अलग स्थान रखती है। इस विधा के पत्रकारिता से जुड़े होने के कारण ही इसकी परिभाषाओं में समाचार पत्र, रिपोर्ट, संवाददाता आदि का उल्लेख सहज ही हो जाता है। हिंदी साहित्य कोश में रिपोर्ताज को परिभाषित करते हुए लिखा गया है— "रिपोर्ट के कलात्मक तथा साहित्यिक रूप को रिपोर्ताज कहते हैं"¹⁰ इस परिभाषा में कलात्मकता तथा साहित्यिकता को रिपोर्ताज का आधार तत्त्व माना गया है लेकिन कलात्मकता और साहित्यिकता के अभाव में तो किसी भी विधा को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। जब कलात्मकता और साहित्यिकता सभी विधाओं में होती है तो कोई रचना इस आधार पर रिपोर्ताज कैसे कही जा सकती है।

अली मुहम्मद अपने शोध ग्रंथ में विभिन्न विद्वानों द्वारा निर्देशित रिपोर्ताज की परिभाषाओं के विवेचन-विश्लेषण के उपरान्त निष्कर्ष रूप में लिखते हैं— "विश्वव्यापी समाचार की क्षमतावाली, समसामयिक यथार्थ घटना, उसके परिवेश की चित्रात्मकता और उसके सम्मिलित शक्तियों के समन्वित प्रभाव वाला जीवंत, सरस कथ्य, यथातथ्य संप्रेषित होकर जब मानवीय-मूल्यों युक्त संवेदना जगा देता है, तब वह साहित्यिक सृजन रिपोर्ताज कहलाता है।"¹¹ अतः कहा जा सकता है कि 'रिपोर्ताज' रिपोर्ट को ही आधार बनाकर लिखा जाता है लेकिन उसमें रिपोर्ट की भांति सपाटता तथा कोरी सूचना मात्र नहीं होती। रिपोर्ताज में लेखक रिपोर्ट के तत्त्वों के साथ-साथ कलात्मकता एवं संवेदनशीलता को भी जोड़ते हुए एक ऐसी रचना की सृष्टि करता है जो पाठक के मन को भी उसी तरह झंकृत कर सके जैसा कि लेखक ने अनुभव किया था।

परंपरा : जैसे किसी भी साहित्यिक विधा की पहली रचना के संदर्भ में सहज रूप से भ्रम हो जाता है उसी प्रकार रिपोर्ताज विधा की पहली रचना के संदर्भ में भी हिंदी साहित्य के आलोचकों के मतों में पर्याप्त भिन्नता दिखाई पड़ती है। वीरपाल वर्मा ने अपने शोध ग्रंथ 'हिंदी रिपोर्ताज' में 1922 ई. के पूर्व प्रकाशित श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के 'बनारस का बुढ़वा मंगल'¹² शीर्षक लेख को हिंदी का पहला रिपोर्ताज माना है तो कैलाश चंद्र

भाटिया शिवदान सिंह चौहान की रचना 'लक्ष्मीपुरा'¹³ को हिंदी का पहला रिपोर्टाज होने का श्रेय देते हैं। इधर 'विश्वनाथ मिश्र'¹⁴, 'प्रभाकर माचवे'¹⁵, 'ओम प्रकाश सिंहल'¹⁶, तथा 'अली मुहम्मद'¹⁷ आदि ने एक स्वर में कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' को हिंदी रिपोर्टाज विधा का जनक मानते हुए उनके द्वारा सन् 1927 ई. में रचित 'वेदों की खोज'¹⁸ शीर्षक रचना को हिंदी का पहला रिपोर्टाज स्वीकारा है। इन तमाम आलोचकों के जो कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' को हिंदी रिपोर्टाज का जनक मानते हैं के मत की पुष्टि 'क्षण बोले-कण मुस्काये' शीर्षक संग्रह की भूमिका में अंकित कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के उस कथन से ही हो जाती है जिसमें इन्होंने स्वयं 'वेदों की खोज' रचना को हिंदी का पहला रिपोर्टाज माना है।

'वेदों की खोज' रिपोर्टाज लिखने के बाद मिश्र जी की लेखनी थमती नहीं है बल्कि उत्तरोत्तर बलवती होती गई है। ये एक के बाद एक कई रिपोर्टाजों की रचना करते हैं जिनका प्रकाशन पत्र-पत्रिकाओं में होता रहता है। इन्होंने अपने रिपोर्टाजों में हिंदी रिपोर्टाज के विविध आयामों को बड़ी ही कुशलता के साथ समेटा है। 'क्षण बोले कण मुस्काये' शीर्षक संग्रह में इनके पच्चीस रिपोर्टाजों को संकलित किया गया है। इन रिपोर्टाजों में मिश्र जी ने जहाँ समाज के लिए उपयोगी तत्त्वों की सराहना की है वहीं हानिकारक तत्त्वों की आलोचना भी। इनके रिपोर्टाजों में सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक जागरूकता तो दिखाई देती ही है साथ ही उसमें इतिहास के साथ लगाव होते हुए भी उज्ज्वल भविष्य के प्रति आकांक्षा भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। मिश्र जी का आशावादी दृष्टिकोण उनके रिपोर्टाजों में कहीं भी टूटता हुआ दिखाई नहीं देता।

रांगेय राघव ने सन् 1943 में अकालग्रस्त बंगाल की यात्रा के बाद कुछ सशक्त रिपोर्टाज लिखे जिन्हें बाद में 'तूफानों के बीच' शीर्षक संग्रह में संकलित कर दिया गया। इस पुस्तक के प्रारंभिक रिपोर्टाजों में जहाँ भूख से विकल बंगाल की जनता का मर्मस्पर्शी क्रंदन है जिसके प्रति लेखक की गहन सहानुभूति दिखाई देती है वहीं बाद के रिपोर्टाजों में अवसरवादी मुनाफाखोरों की निर्मम लालची प्रवृत्ति के प्रति आक्रोश भी दिखाई देता है। इन रिपोर्टाजों में

लेखक ने अकाल और महामारी को झेलती बंगाली जनता की समस्त मनोदशाओं का पूरी गंभीरता के साथ सजीव अंकन किया है। एक उदाहरण देखिए- 'रफाल सरदार के लड़के ने ज्वर से कराह कर करवट ली। माँ देख रही है। चुप है। डॉक्टर के लिए दाम नहीं है। बाप चुप है। आठ रोज से खाने को नहीं दिया है। लड़का तड़प रहा है। पाँच और बच्चे, कोई पड़ा है, कोई चुप बैठा है। उनके जीवित रहने की आशा है, तभी मरते के मुँह में दाना डालने का अन्याय कोई नहीं करना चाहता! माँ भी नहीं। बाप देख रहा है... लड़का तड़प रहा है...!

माँ का दिल नहीं धड़कता। वह मर गई है। हार्ट फेल हो गया। रफाल सरदार मुस्कराता उठता है; 'एक और कम हो गया...!'¹⁹

रिपोर्टाज लेखन के क्षेत्र में प्रकाशचंद्र गुप्त का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इनके सन् 1962 में प्रकाशित 'रेखाचित्र' शीर्षक संग्रह के दूसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में संकलित कुछ रचनाएँ स्केच तथा रेखाचित्र की सीमा से आगे बढ़कर रिपोर्टाज के क्षेत्र में अनायास प्रवेश कर जाती हैं जिनमें 'स्वराज्य भवन'²⁰, 'महाकुंभ'²¹, 'अल्मोड़े का बाजार'²² और 'बंगाल का अकाल'²³ शीर्षक रिपोर्टाज विशेष रूप से आकर्षित करते हैं। इन रिपोर्टाजों में लेखक ने स्मृति के सहारे समसामयिक घटनाओं को संवेदनात्मक स्तर तक पहुँचाया है। इनके रिपोर्टाजों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें सर्वप्रथम मनुष्य के अतिरिक्त सड़क, नगर, मुहल्ला, खंडहर, ताल आदि को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया है। इन रिपोर्टाजों में हर जगह लेखक की उस राजनैतिक चेतना, समाजवादी दृष्टिकोण, स्नेह, सहानुभूति, करुणा आदि का प्राधान्य रहा है जो मानवतावादी दृष्टिकोण के लिए आवश्यक है।

अमृतलाल नागर का पदार्पण रिपोर्टाज के क्षेत्र में सन् 1959 में प्रकाशित 'गदर के फूल' शीर्षक रिपोर्टाज से होता है। इस रिपोर्टाज को लिखने से पूर्व नागर जी अवध प्रांत के गाँव-गाँव, नगर-नगर में घूमकर सन् 1857 की क्रांति से जुड़ी घटनाओं की प्रामाणिक जानकारी बयोवृद्ध लोगों से इकट्ठा करते हैं और बाद में उन्हीं को 'गदर के फूल' शीर्षक रिपोर्टाज के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस

रिपोर्ताज में नागर जी सत्तावन की क्रांति के संबंध में भारतीय दृष्टिकोण से लिखे गए इतिहास के अभाव में जनश्रुतियों के सहारे ही इतिहास के रूप को पहचानने की कोशिश करते दिखाई देते हैं। यहाँ लेखक ने प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि यह क्रांति केवल एक सैनिक विद्रोह नहीं थी जैसा कि अंग्रेजी इतिहासकारों ने प्रचारित किया था बल्कि जनविद्रोह था जिसमें हमारे देश के हिंदू और मुसलमान जनता ने कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेजों का मुकाबला किया। इस परंपरा की अगली कड़ी भगवतशरण उपाध्याय द्वारा लिखे गए रिपोर्ताज 'खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर' और 'टूँठा आम' शीर्षक संग्रहों में संकलित हैं। 'खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर' शीर्षक रिपोर्ताज संग्रह में जहाँ भारतीय समाज के मानवीय भावों के प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक समय तक के उत्थान-पतन, उत्कर्ष और विस्तार, छल और कायरता, अवसरवादिता और असंवेदनशीलता आदि प्रत्येक स्थिति को, युगीन असंगतियों को जड़ों को इतिहास के आईने में तलाशने का प्रयत्न किया गया है वहीं 'टूँठा आम' शीर्षक संग्रह में व्यंग्यात्मक और प्रतीकात्मक शैली में आधुनिक युग की विसंगतियों को तथा भारत की तत्कालीन संस्कृति को उजागर किया गया है। इन रिपोर्ताजों में उपाध्याय जी ने अपने विचारों के नतीजों को निर्भीक होकर सामने रखा है यहाँ हर जगह, हर काल में वह मनुष्य नजर आता है जो अपने ही जीवन से संघर्ष करते हुए आगे बढ़ता है।

हिंदी रिपोर्ताज विधा के क्षेत्र में फणीश्वरनाथ 'रेणु' का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने सन् 1945 से लेकर 1975 के दौरान सर्वाधिक रिपोर्ताज लिखे हैं जिनमें से कुछ रिपोर्ताज 'ऋणजल-धनजल', 'नेपाली क्रांतिकथा', 'वन तुलसी की गंध', 'एकांकी के परिदृश्य' और 'श्रुत-अश्रुत पूर्व' शीर्षक संग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ रिपोर्ताज अभी भी यत्र-तत्र पत्र पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। इन रिपोर्ताजों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रेणु एक कुशल और सफल कथाकार ही नहीं एक सचेत और प्रतिबद्ध रिपोर्ताजकार भी हैं। इनके रिपोर्ताजों में सार्थकता, अर्थवत्ता और सोदेश्यता भरपूर मात्रा में मिलती है। यहाँ यथार्थ की गहरी चेतना और वर्तमान विसंगतियों

का तीव्र बोध तो मिलता ही है, मानव के मंगलमय भविष्य के लिए एक बलवती इच्छा भी दृष्टिगोचर होती है। इन्होंने अपने रिपोर्ताजों में इतने जीवन प्रसंगों, संदर्भों, साहित्य, राजनीति, लोकगीत, लोकजीवन आदि को समेटा है कि रचनाएँ जीवंत और सार्थक हो गई हैं। वे छोटे-छोटे प्रसंग जो अन्य लेखकों की दृष्टि में महत्वहीन होते हैं, रेणु के मानवीय संस्पर्श से अत्यंत मार्मिक बन गए हैं।

हिंदी रिपोर्ताज के क्षेत्र में धर्मवीर भारती का भी विशेष योगदान रहा है। इस क्षेत्र में भारती जी को प्रसिद्धि उनके बांग्लादेश से संबंधित रिपोर्ताजों के कारण मिली लेकिन भारती जी इससे पहले भी छिट-पुट रूप में रिपोर्ताज लिखते रहे थे जो उनके निबंध संग्रह 'ठेले पर हिमालय' और 'कहनी-अनकहनी' में संकलित हैं। सन् 1971 में मुक्तिवाहिनी द्वारा बांग्लादेश की मुक्ति के लिए चलाए जा रहे सशस्त्र अभियान के समय भारती जी ने मुक्तिवाहिनी के सहयोग से गुप्त यात्रा की थी जिसका रोमांचक वर्णन 'मुक्त क्षेत्र-युद्ध क्षेत्र' शीर्षक संग्रह में संकलित है। इस संग्रह के रिपोर्ताजों में भारती जी ने युद्ध के मैदान का सजीव चित्रण करते हुए पाकिस्तानी फौज की अमानवीयता, मुक्तिवाहिनी का अदम्य साहस तथा प्रतिकूल परिस्थिति में भी मानवीयता के प्रति उनकी आस्था आदि को बड़ी कुशलता से पाठक तक पहुँचाया है। इसके अलावा सन् 1971 में ही बांग्लादेश की मुक्ति को लेकर हुए भारत-पाक युद्ध के समय भारतीय मोर्चे पर उपस्थित भारती जी ने युद्ध के रोमांचकारी अनुभवों को 'युद्धयात्रा' शीर्षक संग्रह में संकलित किया है। इन संग्रहों में संकलित ये रिपोर्ताज निश्चय ही बांग्लादेश मुक्ति संग्राम पर आधारित उत्कृष्ट रिपोर्ताजों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

अमृतराय के रिपोर्ताजों का संकलन 'लाल धरती' शीर्षक संग्रह में हुआ है। इन रिपोर्ताजों में अमृतराय ने कड़े तेवर अपनाते हुए आजाद भारत की शासन प्रणाली और आजादी से आम जनता के मोहभंग की स्थिति, नेताओं तथा नौकरशाहों के बदलते रवैये, देश में गहराई से व्याप्त गरीबी, भूखमरी, भ्रष्टाचार तथा मध्यमवर्गीय पारिवारिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी की है। एक उदाहरण देखिए- "...बस साइनबोर्ड बदल गया

है और आजादी की गाड़ी धकाधक चली जा रही है...। दम घुट रहा है, लेकिन सब यहीं समझने की कोशिश कर रहे हैं कि शायद इसी को आजादी कहते हैं, शायद यही आजादी है, उस आजादी में जरूर कहीं खोत होंगी जिसमें सब लोग सुखी हों, हँसते हो, गाते हों, नाचते हों, रंगीन कपड़े पहनकर खुशियाँ मनाते हों।²⁴ इन रिपोर्टाजों में आजादी के बाद की स्थितियों में आम आदमी की हताशा और उससे प्रेरित आक्रोश को आदि से अंत तक देखा जा सकता है।

विवेकी राय के रिपोर्टाज 'जुलूस रुका है' संग्रह में संकलित है। वैसे तो इनके सभी रिपोर्टाज महत्वपूर्ण हैं लेकिन 'बाढ़! बाढ़!! बाढ़!!!'²⁵ 'एक ग्रामायण सात काण्ड'²⁶ और 'जुलूस रुका है'²⁷ शीर्षक रिपोर्टाज विशेष रूप से आकर्षित करते हैं। इन रिपोर्टाजों में विवेकी राय ने राजनैतिक विसंगतियों, शोषण की नई शक्तियों, विघटित होते प्रजातांत्रिक मूल्यों, घूसखोरी, वोट की राजनीति, किसानों की हताशा, निराशा तथा मोहभंग की स्थिति आदि का गहन, गंभीर आकलन किया है। ये रिपोर्टाज समाज के अनाचारों, अंधविश्वासों, कुरीतियों एवं भ्रष्टाचारों की मार्मिक अभिव्यक्ति के साथ नई कृषि व्यवस्था के दुष्परिणामों, गरीब किसानों के बेबाक चित्रण, आंचलिक जीवन, संस्कृति एवं अंचल को ग्रसित करने वाली विभिन्न समस्याओं को मुख्य रूप से प्रकाशित करते हैं। इन रिपोर्टाजों में सायसता की जगह सहजता है, जिसकी अंतरंगता मन को प्रभावित करती है। इनका लेखक ग्राम संस्कृति, श्रम संस्कृति को समर्पित है तथा बड़ी ललक के साथ पाठक से सहज संबंध स्थापित करने में समर्थ है।

सातवें दशक के चर्चित कथाकार 'भीमसेन त्यागी' के रिपोर्टाजों का संकलन सन् 1982 में प्रकाशित 'आदमी से आदमी तक' शीर्षक संग्रह में हुआ है। इन रिपोर्टाजों के जरिए त्यागी जी ने रोजमर्रा के जीवन से जुड़े क्रिया-कलापों को सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकित कर पाठक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत किया है। यहाँ लेखक ने राजधानी दिल्ली और उसके चारों तरफ फैली उन तमाम तरह की जिंदगियों से पाठक वर्ग को यथार्थ रूप से रूबरू कराया है जिसका हिस्सा होते हुए भी उसका ध्यान उनकी तरफ नहीं जाता।

लेखक ने यहाँ रोजाना घटित होने वाली अतिसामान्य घटनाओं को जिस रूप में देखा और प्रस्तुत किया है, वह निश्चय ही सराहनीय है।

इन मुख्य लेखकों के अतिरिक्त जिन लेखकों ने रिपोर्टाज साहित्य को समृद्ध किया उनमें शिवदान सिंह चौहान (लक्ष्मीपुरा), यशपाल (चक्कर क्लब), उपेन्द्र नाथ अशक (रेखाएँ और चित्र), रामकुमार (यूरोप के स्कैच), रामनारायण उपाध्याय (गरीब और अमीर पुस्तकें), लक्ष्मीचंद्र जैन (कागज की किशितियाँ, नए रंग-नए ढंग), रघुवीर सहाय (वे और नहीं होंगे जो मारे जाएँ), बनारसी दास चतुर्वेदी (रूस की साहित्यिक यात्रा), निर्मल वर्मा (चीड़ों पर चाँदनी, हर बारिश में), भदंत आनंद कौशलयायन (देश की मिट्टी बुलाती है), शिवसागर मिश्र (वे लड़ेंगे हजार साल), शंकर दयाल सिंह (युद्ध के चौराहे तक, युद्ध के आस-पास), कुबेर नाथ सिंह (गंधमादन), विष्णुकांत शास्त्री (बांग्लादेश के संदर्भ में), श्रीकांत वर्मा (अपोलो का रथ), लक्ष्मीनारायण लाल (आधी रात से सुबह तक), मणि मधुकर (पिछड़ा पहाड़ा, सूखे सरोवर का भूगोल), ललित शुक्ल (सोजालोबो, पार्वती के कंगन) और मदन मोहन जोशी (पटिया परिकथा) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन रचनाकारों के अतिरिक्त ऐसे अनेक रचनाकार हैं जिनके रिपोर्टाज पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर रिपोर्टाज विधा की परंपरा को सुदृढ़ कर रहे हैं।

संदर्भ :

1. चौहान रामगोपाल सिंह, हिंदी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ, साहित्य रत्न प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण- 1955, पृ. सं. 215।
2. चौहान शिवदान सिंह, साहित्यानुशीलन, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1955, पृ. सं. 52-53।
3. वर्मा वीरपाल, हिंदी रिपोर्टाज, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, प्रथम संस्करण, 1987, पृ. सं. 2।
4. चौहान शिवदान सिंह, साहित्यानुशीलन, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1955, पृ. सं. 52।
5. मिश्र डॉ. भगीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, प्रकाशन वर्ष- 1970, पृ. सं. 90।

6. राघव रांगेय, तूफानों के बीच, शब्दकार प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1985, प्रकाशकीय, पृ. सं.- 7।
7. मिश्र शिवसागर, वे लड़ेंगे हजार साल, शकुन प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष- 1966, दो शब्द, पृ. सं.- 7।
8. त्यागी सुरेश चंद्र (संपादक), कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, व्यक्ति और साहित्य, आशिर प्रकाशन, सहारनपुर, प्रथम संस्करण- 1986, पृ. सं.- 221।
9. गुप्त शांति स्वरूप, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, अशोक प्रकाशन, दिल्ली-6, नवीन संस्करण- 2009, पृ. सं.- 351।
10. वर्मा धीरेन्द्र तथा अन्य, हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड वाराणसी-1, द्वितीय संस्करण, संवत्- 2020, पृ. सं.- 716।
11. मुहम्मद अली, हिंदी रिपोर्टाज : परंपरा और मूल्यांकन, फर्स्ट एडिशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2004, पृ. सं.- 9।
12. वर्मा वीरपाल, हिंदी रिपोर्टाज, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, प्रथम संस्करण, 1987, पृ. सं. 42।
13. भाटिया कैलाश चंद्र, हिंदी साहित्य की नवीन विधाएँ, यूनाइटेड बुक हाउस, दिल्ली प्रथम संस्करण, 1987, पृ. सं. 39।
14. त्यागी सुरेश चंद्र (संपादक), कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, व्यक्ति और साहित्य, आशिर प्रकाशन, सहारनपुर, प्रथम संस्करण- 1986, पृ. सं.- 153।
15. वही, पृ. सं.- 221।
16. सिंहल ओम प्रकाश, गद्य के नए आयाम, पीतांबर पब्लिशिंग कंपनी, प्रथम संस्करण- 1981, पृ. सं.- 75।
17. मुहम्मद अली, हिंदी रिपोर्टाज : परंपरा और मूल्यांकन, फर्स्ट एडिशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2004, पृ. सं.-106।
18. प्रभाकर कन्हैयालाल मिश्र, क्षण बोले-कण मुस्काये, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण- 1980, पृ. सं. 7।
19. राघव सुलोचना (संपादक), रांगेय राघव ग्रंथावली, भाग-8, राजपाल एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982, पृ. सं. 205।
20. गुप्त प्रकाशचंद्र, रेखाचित्र, विद्यार्थी ग्रंथकार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, 1962, पृ. सं. 73।
21. वही, पृ. सं.- 99।
22. वही, पृ. सं.- 210।
23. वही, पृ. सं.- 226।
24. अमृतराय, लाल धरती, हिंदुस्तान पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, (प्रकाशन वर्ष अप्रकाशित), पृ. सं. 36।
25. राय विवेकी, जुलूस रुका है, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1977, पृ. सं.-41।
26. वही, पृ. सं.- 73।
27. वही, पृ. सं.- 130।

संपर्क:

आई/2ए, इडेन टॉली सिगनेचर,
344 एम. जी. रोड, कबरडांगा,
कोलकाता- 700104, मो. 9903529628

राकेश भारतीय

विचार-यात्रा

टहलता है विचार
फिर दिमाग के अंदर
धप-धप करते हुए
पैर उसके बढ़ते हैं
एक दिशा में लगातार
तय कर रास्ता कुछ
मुड़ते हैं फिर वापस
रुक कर किसी दुआर
कदमताल करते हुए
सानी-पानी गटक डकार
निकल पड़ते हैं फिर
तंतु-तंतु नापते हुए
दूसरी दिशा में जैसे
चक्करो का एक चक्कर
चल रहा हो अनवरत
कांप-कांप जाते कान
फैलते-सिकुड़ते हुए नथुने
अंदर गड़ी हुई आँखें
बार-बार भिंचते जबड़े
सब कहते पुकार-पुकार
तनाव में तंत्रिक-तंत्र
मदद की करता गुहार
जुट जाती है धमनियाँ
दुगुना-तिगुना खून ऊपर
भेजते हुए सोचती हैं
कौन आफत मची फिर
कहां घुस बैठा विकार

मौका पाकर धीरे से
रख देता है डोली
बढ़ते ताप का कहार
मस्तक पर झिलमिलाते हुए
स्वेद बिंदु लगते ऐसे
शत्रुसैन्य के सामने जैसे
मोर्चा संभाले घुड़सवार
बहुत उंगलियां उठती हुई
बहुत भृकुटियाँ तनती हुई
साथ देती गिनी चुनी
फुसफुसाहटें छिपी-छिपी
बदल कर सब कुछ
रख देता है दिमाग में
टहलता हुआ विचार।

डर

डर रहा है वह
उतना ही जितना
मैं डर रहा हूँ
पर मेरे डर की तहों को
भेद नहीं पायी हैं उसकी नज़रें
और न ही अपने डर के अंदर
झाँकने दिया है उसने मुझे कभी
और शायद इसलिए हम दोनों
एक-दूसरे से डरते हुए
कैद हैं अपने-अपने डर में।

महामहिम

न उनके शब्द उनके
न उनकी भंगिमा उनकी
कहाँ, कब और कैसे
क्या बोलना- बतियाना है उनको
तय करता है कोई और ही
मत देखो उनकी तरफ
मत करो उनसे कोई उम्मीद
महामहिम दरअसल महामहिम नहीं
माफ़िया - मवालियों, बक़ैतों - डकैतों
बट्टेबाजों- सट्टेबाजों इत्यादि से प्रतिपोषित
रिमोट चालित खिलौनों की प्रौद्योगिकी के
एक ताज़ातरीन - बेहतरीन नमूना भर हैं

जाते-जाते

बैंक में बचाये रखे रुपये
किशतों में ख़रीदी गई कार
कठिन उधारी से मिला फ्लैट
जोड़े गये सामान दो-चार
चाय पर गपियाने वाले दोस्त
बेमौके घात लगाने वाले दुश्मन
स्नेह के चलते बने हुए प्रिय
और बेवजह ही चिपके रहे अप्रिय
सब यहीं छोड़कर जा रहा हूँ
आह! यहीं छोड़कर जा रहा हूँ...
गा सकता किसी तरह ये गाना
तो यही गाते-गाते होता जाना
उस आदमी का जो अभी-अभी
एक मुर्दे में तब्दील हो गया।

संपर्क : 590, डी.डी.ए फ्लैट्स, पाकेट-1, सेक्टर- 22, द्वारका, नई दिल्ली- 110077, मो. 09968334756

शिवानंद सिंह 'सहयोगी'

दरोगाजी रपट लिखिये

प्रगति की छाँह में खेती
 'भुवन' की हो गई गायब
 दरोगाजी रपट लिखिये
 सड़क है चाँद का दर्शन
 जहाँ रहते विधायक जी
 नहीं दो साल से लौटे
 नये सांसद विनायक जी
 डकारा जा रहा है अब
 मिला अनुदान ही शायद
 दरोगाजी रपट लिखिये
 सुना कोई नई दिल्ली
 जहाँ संसद प्रवासी है
 फड़ों पर बैठती थाली
 मगर अंगद सियासी है
 नहीं सुनता हुआ बहरा
 हमारे देश का गुंबद
 दरोगाजी रपट लिखिये
 मरा आशा भरा फागुन
 किसी तालाब में डूबा
 ग्रथित उपवास रोता है
 ठगा अहसास है ऊबा
 नकारा जा रहा है अब
 मिला अधिकार हर जायज
 दरोगाजी रपट लिखिये।

धूप का चूल्हा

धूप का चूल्हा जला है
 पक रही है जिन्दगी
 दूर तक आकाश फैला
 सिन्धु से अपना हिमालय
 तक रही है जिन्दगी
 रोज अदहन-सा पसीना
 खौलता है भूख बन
 एक फैला-सा मरुस्थल
 जल रहा है रूख बन
 आस का आंचल बिछाकर
 चाह के पुरुषार्थ पर चल
 थक रही है जिन्दगी
 धूल की मखमली चादर
 बिछ चुकी है पर्त पर
 हरीतिमा की डाल हरिअर
 हँस रही है शर्त पर
 समय के अनजान पथ पर
 कर्म के अभिमान का फल
 छक रही है जिन्दगी
 धुंध में ही चल रही है
 प्रगति की अधिनायिका
 भूलती गंतव्य अपना
 गठन की परिचायिका
 गोटियाँ शतरंज की हैं
 दर्द के फैलाव पर कुछ
 झक रही है जिन्दगी।

पुरखों की जमीन

पुरखों की जमीन में हिस्सा
एक तिहाई है
बलुई पर ककड़ी की खेती
सोता पर मकई
देखभाल करते रहते हैं
राहगीर मनई
बघऊ तर कोदो के अँगना
जमी निराई है
न्योता का भी आना-जाना
जहाँ करीबी है
पैर तुड़ाकर बैठी घर में
तनी गरीबी है
खुरपी रहती हाथ बँटाती
बँटी कमाई है
उचटे कई बसंत उठाये
शहर पठौनी है
गिरवी अब तक शिकमी के घर
पड़ी खतौनी है
रोटी के इस अमरनाथ की
कठिन चढ़ाई है।

उसे क्या शहर कहते हैं

जहाँ है नीर का टोटा
जहाँ प्यासा खड़ा लोटा
जहाँ बदहाल है मटकी
प्रदूषण है जहाँ मोटा
जहाँ की झोंपड़ी के घर
नहीं व्यापार रहते हैं
उसे क्या शहर कहते हैं
जहाँ नाले पड़े गंदे
जहाँ लटके मिले फंदे
जहाँ पर गुल खिलाते हैं
जमा बदनाम के चंदे
जहाँ की गंदगी में मनु
कई हरद्वार बहते हैं
उसे क्या शहर कहते हैं
जहाँ सड़कें बनीं गंगा
जहाँ का आचरण नंगा
जहाँ की स्वच्छता लँगड़ी
जहाँ का जोश है दंगा
जहाँ हत्या छिनैती के
छपे अखबार बिकते हैं
उसे क्या शहर कहते हैं

संपर्क : 'शिवाभा', ए-233, गंगानगर, मेरठ-250001 (उ. प्र.), मो. 09412212255

शाहनाज़ इमरानी

उब खबरात में

सुबह उठे तो देखा
सब कुछ बदल दिया बरसात ने
कामवाली बाई आज नहीं आयेगी
उसके घर की छत कल हवा में उड़ गई
दानिश अपने घर पर तिरपाल लगा रहा है
पड़ोसी से कह रहा है
इस बरसात में बहुत महींगी मिली है
यास्मीन की झुग्गी पत्ते की तरह बह गई
दो चार बर्तन और एक बड़ी-सी पोटली लिए
अपने बच्चे की ऊँगली पकड़े कहती है
बाजी थोड़ा पैसा दे दो इसको दवाई दिलानी है
जे बर्तन भाँडे रख लो पानी उतरेगा तो ले जाऊंगी
गलियों में पानी भर गया है नीचे वाले घरों में भी
गटर से पानी उबल रहा है
लोग उस पानी में चल रहे हैं
सरकार और पार्षद की लापरवाही पर
बड़बड़ाते
बिजली चमक रही है आसमान अब भी काला है
सड़क किनारे लगे गुलमोहर के दरख्त टूट गये
और झील किनारा तोड़कर सड़क तक आ गई है
स्कूल में 'रेनी डे' की छुट्टी है
सारा शहर टपक रहा हो जैसे
कितने घरों में न तो रौशनी है
और न सुबह से खाना बना है
घर में टी.वी. चल रहा है

बाढ़ की चपेट में कई शहर आ गए हैं
जल है तो जीवन है ?
जल ही जीवन बहा ले जा रहा है
किसानों की फ़सलें बर्बाद हुई हैं
मरने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है।

दृश्य के आहव

मैं मान लेती हूँ कि मेरे पास
कहने के लिए नया कुछ नहीं
जो भी है कहा जा चुका है
अगर मैं न बोलूँ तब भी
मेरी खामोशी का कोई मतलब निकाल लोगे
मेरी सोच पर इल्जाम लगा दोगे
अगर सोचे हुए रास्ते से चलकर
सोचे हुए मुकाम पर पहुँच जाऊँ
तो हो सकता है सोचा हुआ वो न हो मेरे सामने
मुश्किल है पहचान का अनपहचाना होना
मगर पहचान का अर्थ यह तो नहीं है
कि उसे दृश्य मान लूँ
जो तुम्हें दिखाई देता है
पूरा सच बहुत सख्त होता है
पर सबसे बड़ा सच मौका परस्त है
एक आवाज जो नहीं है किसी और की तरह
दृश्य के बाहर हैं सन्नाटे और अँधेरा।

पुराना डाकखाना

चौड़ी सड़कों में दबे
पानी के बाँध में समा गए
शहर की तरह एक दिन तुम भी
तमाम मुर्दा चीजों में शुमार हो जाओगे
वक्त्र की चाबुक से छिल गई है
राबते की पीठ
कुछ शब्दों को नकार दिया है
कुछ पुराने पड़ गए शब्दों को
मिट्टी में दबा दिया है
उखड़ी सड़क, झाड़-झंझाड़
और अकेले खड़े तुम
रोज़ अंदर-ही-अंदर का
खालीपन गहरा होता जाता है
पुराने धूल भरे कार्ड
पत्रिकायें, बेनाम चिट्ठियाँ
जाने कहाँ-कहाँ भटकी हैं
कुछ आँखें धुँधला गयी होंगी इंतजार में
कुछ आँखों का बहता होगा काजल
कुछ आँखों को आज भी इंतजार है
गुम हुई चिट्ठियों के मिलने का।

ट्रैफिक सिग्नल

ट्रैफिक सिग्नल पर जब रुकती है कार
उग आते हैं अनगिनत
नन्हें-नन्हें हाथ
किसी हाथ में अखबार
किसी में महकता गजरा
किसी में खिलौने
किसी में भगवान
कुछ हाथ खाली हैं
जिनमें झाँकते हैं
अनुत्तरित सवाल
एक बच्चा
क्रमीज़ की आस्तीन से
जल्दी-जल्दी कार के शीशे साफ़ करता है
और नाक पोंछ कर कहता है
कुछ दे दो न साब
और साब का बच्चा कहता है
पीछे हट तूने कार के ग्लास गंदे कर दिये।

संपर्क : मकान नं. 6, गली नं.-2, मस्जिद मदारुल मुहाम, ओल्ड फ़िज़ा हॉस्पिटल,
गिन्नौरी, भोपाल (म. प्र.), पिन- 462001, मो. 09753870386

केशव शरण

अंतरिक्ष यान और ताजमहल

मैंने उसे
अंतरिक्ष यान दिया फूलों का
मेरी समझ से
यह एक बेहतरीन भेंट थी
खासी कलात्मक थी
जिसे पाकर
उस पर जादुई असर होना था
उसे मेरी बाहों में आना था
न कि उड़ जाना था
उसे
किसी और के साथ
लेकिन, मैं हूँ कि देखो
इंतजार में खड़ा हूँ
कि वह लौटे
तो मैं उसे
शीशे का
ताजमहल दूँ।

चबम परिणति

डूबे थे
मग्न थे
लीन थे
तल्लीन थे
जिस दुनिया में
उसी में
दफ़न हैं
क्रब्र में बदल गयी है
उनकी अपनी दुनिया
नहीं तो
कितने भी डूबे थे
मग्न थे
लीन थे
तल्लीन थे
पुकारने पर
आते थे
मुस्कराते हुए बाहर।

तयशुदा समय पत्र

परवान चढ़ेगी
आसमान छुयेगी
और धड़ाम हो जायेगी
उम्मीद
सपनों के साथ
तयशुदा समय पर
पहुँचेगा धक्का
कि कुछ भी तय नहीं है
निश्चित और पक्का
दुनियावी प्रबंधों में
संबंधों में
तयशुदा समय पर
तय हो जायेगा कि
जितने टूटे-बिखरे
कच्चे और अनिश्चित तत्त्व थे
हमने उनका जोड़ रखा था
उम्मीद के धागे से
और नाम दे रखा था- सपने।

मखमल का कुरता

क्या करोगे
मखमल का कुरता
उसे देकर,
देना ही है तो
एक गंजी दे दो
फटी हुई पहन रहा बेचारा
मखमल का कुरता
उसे देना
जिससे सफारी सूट लेना
इसे गंजी देकर टालो
कोरे वायदे की जगह

संपर्क:

एस 2/564 सिकरौल,
वाराणसी- 221002, मो. 09415295137

आरती

थोड़ा भुक्ता लो इस कालीन पत्र

इनके पास किस्से कहानियों के
थान-दर-थान हैं
एक-एक रेशा चुनकर रखती हैं
एक-एक रंग करीने से सजाती हैं
अपनी दुनिया की देह पर उगे
खर-पतवारों को बीन बीनकर
बुनती हैं मखमली कालीन
और निश्चिंत सो जाती हैं
कुछ पल चुरा छिपाकर
कुछ कतरनें इस थान की, कुछ उसकी
बिखेरती आसपास
चलते-फिरते खिलाते-खाते
सोते जागते हुए भी
मस्त रहती हैं अपनी बनाई दुनिया के
सपनीले कारखाने में
ये स्त्रियाँ, बेजतन नींद लेने वाली
कोई भी हो सकती हैं
मेरी दादी नानी तुम्हारी भी
इसकी... उसकी... शायद सबकी
तुम झरोखों से झाँककर
कभी-कभार इनका चेहरा
अनसुना करके विरह-विहाग
बिना सहलाए इस कालीन के नरम रोएँ
फरमान-जैसा जारी नहीं कर सकते

कि यहाँ सब रीता-रीता है
तुम्हारी नींद गिरवी है कवि
किताबों की जिल्द में
तुम खोजा, सफ़ेद पन्नों में काली स्याही
नींद के अंतरंग कोने और नुस्खे
जानने की खातिर
तुम्हें सुस्ताना होगा
उनके बुने मखमली कालीन पर
और बेरंग पन्ने अपनी किताबों के
रंगने होंगे उनकी क्रिस्सागोई से।

तुम्हारी खाली चाय

वो, ऐसी ही चाय पीती हैं
कड़क... कम दूध... ज़्यादा शक्कर
उन्होंने प्याला भरकर मेरी ओर बढ़ाया-
'चखकर देखो तुम्हारी वाली ही है'
मैंने खाली कर दिया
पूरा-का-पूरा
आज इसी की जरूरत थी
'माँ, मुझे तुम्हारी वाली ही चाहिए'
उनके चूल्हे पर चढ़ी है केतली
उबल रही है लाल चाय
वो सबको पिला सकती है बराबर-बराबर
मैंने एक प्याला और माँगा था।

ऐसे बनती है कविता

एक-एक मात्रा आगे बढ़ते
शब्द-दर-शब्द सहलाते पंक्तियों को
तस्वीर बन जाती है आँखों में
और मन में उतर जाती है
धूप हवा बारिश
देखे अनदेखे रंग आकार पाकर
धीमे से फैल जाते हैं
धरती आकाश चुपके से
बन जाते हैं कैनवास
ऐसे ही बेआहट उग जाता है प्रेम
और कविता भी ऐसे ही बनती है।

थपकियाँ देखकर भुला गई

सुबह ने नींद से झकझोरकर जगा दिया
उसके हाथों में एक लंबी फेहरिस्त थी
धूप जलाती रही
छाँव का छोटा टुकड़ा भी हाथ न आने दिया उसने
और थककर चकनाचूर हुई जब शाम हो चुकी थी
रात आई, सिरहाना लेकर
सुला गई वह, बिल्कुल माँ की तरह
थपकियाँ देकर।

आवाज़ चुगली करती है

फ़ोन पर आँखें दिखाई नहीं देतीं
दिखती नहीं खुशी और रंज की उठती गिरती पलकें
शब्दों की थरथराहट
धड़कनों में रूपायित हो जाती है
आवाज़ की खनखन आँख की पुतली बन जाती है
जहाँ, दिख जाती है पिता को
बेटी की तकलीफें
वे जान जाते हैं, आज पैरों में तेज़ दर्द है
मौसम की बातें और आज खाने में क्या बनाया
बताते हुए आवाज़ चुगली कर देती है
उधेड़ देती है झूठ सतरों को
इन दिनों मैं, पिता को फ़ोन करने से पहले
ढोलक की कड़ियों-सा खींच-खींचकर साधती हूँ खुद को
इन दिनों मैं अपने स्वरों के कंपन से डरने लगी हूँ
जो पिता के माथे को चिंता की लक़ीरों से भर देते हैं।

संपर्क :

बी-509, जीवन विहार कॉलोनी, पी. एण्ड टी. चौराहा
भोपाल-462003 (मध्य प्रदेश), मो. 09713035330

यादराम शर्मा

राजल

मौसमे-बदलाव को कुछ इस तरह देखा गया।
था कहाँ मैं और कितनी दूर चलकर आ गया।।
सामने मुझसे मिला हँस कर वो मेरा हमनवा।
पीठ पीछे दुश्मनों की भीड़ में देखा गया।।
बैठ कर चौपाल पर करते थे हम जो गुफ्तगू।
आज के इस दौर में वो प्यार का चर्चा गया।।
जो वतन को कर गये आजाद, थे यूँ तो बहुत।
हर किसी का नाम कब इतिहास में लिखा गया।।
ले गया कुछ भी नहीं जो भी कमाया उम्र-भर।
आखिरी दम जब गया, हर आदमी तनहा गया।।
हो सके तो दें फ़कीरों को महज़ ये सोच कर।
जो गया, रब का गया, क्या ज़ेब से अपना गया।।

किसी के प्यार की जानिब अगर देखा नहीं होता।
तो कह देता, मुहब्बत का कोई रिश्ता नहीं होता।।
खुले आकाश की सूरत में होते हैं दिली-रिश्ते।
जहाँ दिल साफ़ होता है वहाँ परदा नहीं होता।।
सिमट जाते अंधेरों की रिवायत में हमेशा को।
हमारे दरम्यां जो प्यार का चर्चा नहीं होता।।
जहाँ सौदागरी होती किसी के जिस्म की केवल।
दिली-जज़्बात का सागर वहाँ गहरा नहीं होता।।
समा जाते रिफ़ाक़त के समन्दर तब निगाहों में।
तुम्हारे सोच का दरिया अगर मैला नहीं होता।।
ठहर जाते हैं रिश्ते प्यार के आ अब निगाहों में।
मुहब्बत के सफ़र में तब बशर तनहा नहीं होता।।

धरती एक बिछौना, अम्बर की छत है।
घर में अपने साथ खुदा की रहमत है।।
कब होगी बरसात लिखा होता जिसमें।
चिड़ियों के हाथों में मौसम का ख़त है।।
परवाज़ें हैं आज विदेशों में जिनकी।
घर में जानिब देखें, किसको फ़ुर्सत है।।
सत्ता-सुख भोगेंगे पूरे पांच बरस।
जनता का जब साथ हमारे बहुमत है।।
सोच यही, रक्खें हम पाँव जहाँ भर में।
अपने ही हाथों में अपनी इज्जत है।।

बोझ दिल पर बेकार क्यों रक्खें।
हर किसी पर अधिकार क्यों रक्खें।।
जिस्म की खूबसूरत अदाओं से।
फूल जैसा व्यवहार क्यों रक्खें।।
जब पता है हमको, जला देगा
साथ ग़मों के अंगार क्यों रक्खें।।
दे रिफ़ाक़त जो तल्ब रिश्तों की।
बदज़बां से हम प्यार क्यों रक्खें।।
आग जैसी हो हर ख़बर जिसकी।
सामने वो अख़बार क्यों रक्खें।।

संपर्क : ग्राम-फरीदपुर, पोस्ट-सुमेरा (अलीगढ़), पिन-202126 (उ.प्र.), मो. 09410645951

‘सरगम के सुर साथे’ नामक स्तंभ की शुरुआत हम वरिष्ठ कवि ‘पाषाण’ की कविता से कर रहे हैं। आशा है हमें हर बार, हर अंक के लिए वरिष्ठ कवियों के विशेष ‘मूड’ और ‘मिज़ाज़’ की कविता उनके निजी वक्तव्य के साथ प्राप्त होती रहेगी। कवि की रचना यात्रा के पड़ाव पर उग आई विशिष्ट उपलब्धि का ‘मुक्तांचल’ सहर्ष स्वागत करता है।

धुव्रदेव मिश्र ‘पाषाण’

मार्च 2015 का एक दिन

अपराह्न 3 बजे।

दरवाजे के दक्षिण कुंज में ज्यों ही खड़ा हुआ एकाएक जामुन के पेड़ से एक ही झोंक में ढेर सारे सूखे पत्ते सिर के ऊपर, कंधों पर और फिर सरकते हुए नीचे टपक पड़े। दो तीन से सेकण्ड में लगा जैसे निष्पत्र हो गया जामुन का पेड़। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। शेष थे डालों पर हरे पत्ते प्रचुर। मन उद्वेलित भी हुआ— उच्छ्वसित भी। और लिखी गई यह रचना— शायद कविता ही ‘सरगम के सुर साथे’

झहर-झहर
झर
झरते पत्ते
हहर- हहर
हर गिरते पत्ते
नम होतीं
क्षितिजों की आँखें
हवा-हवा
झँप जातीं
झुक जातीं
पलक-पलट

मेरी आँखें	जीव-जगत की आँखें
बीच-बीच झलक मारते	नहीं चुकेगा
हरिआते पत्ते	धरती का
शायद जल्दी बहुरें अच्छे दिन	जीवन-जल
फिर-फिर	नहीं रुकेगा
सुख रहे पेड़ों के।	शाख-शाख
बीते के भीतर अँखुआते भावी के अंकुर	उगने-झरने का क्रम
ताक-झाँक करते अँधियारे में जुगनू जैसे	प्रलय-कीच में
खेत जोतते हलवाहे की आँखों में जैसे	खिला करेगा
कौंधे	सृष्टि-कमल हरदम
मिट्टी में दबा हुआ	नहीं थमेगा
कंचन-घट।	नव जीवन के बीज रोपता
धरती में	मानव का श्रम।
गहरे धँसी जड़ों की फाँस-फाँस	सघन तमिस्रा के आर-पार
शिरा-शिरा ऊपर चढ़ता	सदा भरेगी
तरु की नस-नस	चमक-दमक से
जीवन-जल।	क्षितिजों की आँखें
उगते शाख-शाख पत्ते	पल-पल
हवा-हवा झूम-झूम	बिहरेंगे
हिलते पत्ते	अखिल भुवन में
जुटते-जुड़ते पाखी	सरगम के सुर साथे पाखी
पाँख-पाँख	साधेगा
फर-फर	कवि का मन
सर-सर	सरगम के पाखी सुर
सरगम के सुर साथे पाखी।	साखी होंगे
चमक-दमक से	अम्बर-धरती
भर-भर जातीं	दिशा-दिशा सब।

(25 मार्च 2015 को अपने ग्राम इमिलिया में शुरू हुई यह कविता अन्ततः पूरी हुई 7 अगस्त 2015 को अपने देवरिया आवास पर लेकिन क्या पूरी हो गई सचमुच)

संपर्क:

दक्षिणी उमानगर (कान्वेंट स्कूल के सामने, गोवर्धन मार्बल के सामने की गली में शांतिसदन)
देवरिया- 274001, उ.प्र., मो. 09748728879

डर

डॉ. रश्मिशील

मानसी अभी बिस्तर पर ही थी कि उसका मोबाइल बज उठा। उसने सावलिया नजरों से मोबाइल की ओर देखा जैसे जान लेना चाहती हो कि सुबह-सुबह किसे, क्या तकलीफ है! 'काल बैक' न करना पड़े इसलिए उसने झट से मोबाइल उठा लिया। बटन दबाकर कान से लगाया और धीमे से कहा, 'हलो।' दूसरी ओर की आवाज सुनकर वह चहककर उठ बैठी मोबाइल सीधे हाथ से पकड़कर कहा, "अरे मॉम आप! आज सुबह-सुबह! सब खैरियत तो है!"

उसने मोबाइल का लाउडस्पीकर 'आन' कर दिया ताकि धीमे बोलने वाली माँ की बातों का एक-एक शब्द सुन सके।

उधर से माँ की स्नेहिल फटकार आ रही थी, "आठ कब के बज चुके हैं और तूने अभी तक बिस्तर नहीं छोड़ा है!"

"मॉम, आप तो डांटने का कोई अवसर नहीं चूकतीं। हुआ यह..."

"...कि तू रात में काफी देर तक पढ़कर क्लास के लिए नोट्स तैयार करती रही, इसलिए देर से सोई..." माँ ने वाक्य पूरा किया।

"...और देर से सोने वाले को देर तक सोने का हक होता है। हैं न मॉम।"

उसकी निश्छल हँसी समाप्त होने के बाद माँ मुद्दे की बात पर आई, "सुन मनु, तुझे आज शाम को घर आना है।"

"लेकिन संडे तो अभी दो दिन बाद है। "कोई बात है क्या!"

"हाँ, बात तो है। तेरे भैया ने एक जगह तेरे रिश्ते की बात चलाई है।"

"ओह! मॉम।"

"अरी सुन तो सही। वर पक्ष चाहता है कि लड़का-लड़की एक-दूसरे को देख-सुन लें; पसंद कर लें, तो बात आगे बढ़े। लड़का आज ही आ रहा है, शाम तक। बस, तू यह मत कहना कि अभी-अभी नौकरी शुरू की है, अभी जल्दी क्या है! लड़का और उसके परिवार वाले सभी अच्छे हैं। बस, तू देख ले, उसके बाद तेरी मर्जी। हम तेरे ऊपर कोई फैसला नहीं थोपेंगे।"

"बस, बस! मॉम, मुझे इतना मत चढ़ाओ। अपने आंचल की छाया में ही बना रहने दो। आप जो कहोगी करूंगी। पापा को भी बोल देना..."

"क्या?"

"अरे यही, कि मैं शाम को घर आ रही हूँ।"

बस स्टाप पर खड़ी मानसी ने अपनी बाहें सीने पर कसते हुए आसमान की ओर देखा।

ऊपर हल्की बदली छाई हुई थी। तेज हवा ने ठंड कुछ और बढ़ा दी थी। आजकल मौसम कितना 'अनसरटेन' हो गया है। उसकी सोच की ताकीद करने के लिए ऊपर से बूंदें गिरने लगी। उसने इधर-उधर देखा, तभी जैसे उसे असहाय पाकर, कृपा करके बूंदें रुक गई।

उसे स्टॉप पर खड़े देर हो चुकी थी पर बस का कहीं पता नहीं था। उसने उड़ती-सी नजर वहां खड़ी सवारियों पर डाली। उसे संतोष हुआ कि वह अकेली नहीं है। वह उसी ओर देख रही थी जिधर से बस को आना था। कुछ देर बाद एक बस आती दिखायी दी। ओफ़! वह कैसे चढ़ पाएगी इस बस में। इसके दोनों गेटों पर सवारियां लटकी हुई हैं। बस आकर खड़ी हुई। ओवरलोड थी। दो सवारियां उतरी, चार चढ़ गईं। बस चली गई, वह खड़ी रह गई। भीड़ से उसे शुरू से डर लगता था।

हताश-निराश मानसी वहीं खड़ी रह गई। बूंदें फिर पड़ने लगी। पानी से बचने के लिए वह सड़क के किनारे छायादार पेड़ के नीचे स्थापित चाय की गुमटी के पास जाकर खड़ हो गई।

चायवाला अक्सर मानसी को आते-जाते देखता था इसलिए उसे पहचानता था। देखा तो बोला, "का घरै जाय रही हौ? आजु तो बस की बड़ी मारा-मारी है।"

"क्यों?" प्रश्न करते हुए मानसी ने सोचा कि लगता है कोई दूसरी बस नहीं आएगी।

चायवाला सूचना प्रसारित करने लगा, "आजु प्राइमरी स्कूलों मा पढ़ावे वाले शिक्षा-मित्तों की रैली है न; सो ज्यादातर बसें रैली मा लगी हैं।"

चायवाले की बातों ने मानसी की चिंता बढ़ा दी। उसे खुद पर गुस्सा आया के कल अखबार में पढ़ी रैली वाली बात वह भूल कैसे गई! हर रैली में लोग प्राइवेट बसें हायर कर लेते हैं। याद रहता तो माँ को आज आने के लिए मना कर देती। पर अब मना कैसे करें, वे महाशय तो निकल पड़े होंगे। अनिश्चितता में डोलती वहीं खड़ी रहकर अगली बस का इंतजार करने लगी। शायद उसके भाग्य से दूसरी बस आ जाये और ओवरलोड न हो।

मानसी रायबरेली-लखनऊ रोड पर मोहनलालगंज में स्थित अंबालिका इंजीनियरिंग एण्ड मैनेजमेंट इंस्टीट्यूट में

'प्रबंधन' पढ़ाती थी। इसी सत्र के प्रारंभ में उसकी नौकरी लगी थी। वह इंस्टीट्यूट कैंपस में बने गर्ल्स हास्टल में रहती थी। वैसे तो हर शनिवार की शाम को घर जाती ही थी और सोमवार को सुबह लौट आती थी। माँ से सुबह हुई बातों के सिलसिले में आज बुधवार को ही घर जा रही थी।

कालेज करके वहाँ से निकलते ही उसकी कलीग रुचि मिल गई। उसे अचानक घर जाने का कारण बताया तो उसने चुटकी ली, "ओ हो, 'तो मैडम अपने 'उस' से मिलने जा रही हैं। जाओ भाई, जाओ। मेरी शुभकामनाएँ आप दोनों के साथ हैं।"

"अभी से शुभकामनाएँ! क्या पता वह मुझे पसंद करे, न करे।" यह कहते हुए मानसी के दिल में एक लहर-सी उठी।

"वह तुम्हें देखते ही फिदा हो जायेगा मेरी जान।"

"और यदि मैं फिदा न हुई तो!" मानसी ने चुटकी ली।

"गारंटी करती हूँ कि फिदा हो जाओगी!... लड़का अगर सुंदर और स्मार्ट न होता तो उसके पैरेंट्स उसे न भेजकर खुद देखने आते।"

"यार तेरा मनोविज्ञान बड़ा तगड़ा है। चल ठीक है तेरी शुभकामनाएँ लीं, और मैं चली, बॉय।"...

बूँदा-बांदी अब भी जारी थी। मानसी ने मोबाइल में समय देखा, आठ बजे थे।

इंतजार करते आधा घंटा और बीत चुका था, पर बस का कहीं अता-पता नहीं था। अगर बस न आई तो! उसका मन दुचिन्ता हो गया। क्या अभी और इंतजार करे या हॉस्टल लौट जाए। यह सोचते ही उसे कंप होने लगा-हॉस्टल लगभग दो किलोमीटर दूर था; वहाँ से पहुँचने का छोटा रास्ता खेतों की मेढ़ से होकर था। अगर जरूरत पड़े तो भाग भी न सके। और ऊपर से मौसम की मार और उसे झेलता अंधेरा।

उसका दिमाग भन्नाने लगा। बुरे विचार स्मृति पर दस्तक देने लगे। अभी कुछ दिन पहले की बात है आशियाना क्षेत्र के एक सुनसान इलाके से बदमाशों ने दिनदहाड़े एक लड़की को अगवा कर लिया। उसके साथ सामूहिक दुष्कर्म करने के बाद उस पर तेजाब फेंककर भाग गए। मुंह जलेगा तो उसे दिखाने काबिल नहीं रहेगी और आत्म-

विश्वास टूटेगा सो अलग। छह महीने बयान देने के काबिल हो पाई। पुलिस को बयान दिया, यानी खानापूरी। सुना नहीं कि कोई पकड़ा गया।... हंसा दीदी की किस्मत अच्छी थी कि सामूहिक दुष्कर्म झेल न पाने के कारण दम तोड़ दिया। यह उसके लिए कोई समाचार नहीं था, उसने दीदी का शव देखा था। उनका चेहरा पीड़ा से विकृत बना रह गया था, वह खून के तालाब में पड़ी थीं। तब उसका भीत किशोर मन हंसा के मुख पर दुरंत व्यथा-कथा अंकित देखकर अनावश्यक आशंका से भर उठा था। उसे हर बाहरी पुरुष एक दुर्दांत भेड़िया लगता और उसकी अनपेक्षित उपस्थिति से वह शिथिल पड़ जाती। वह नहीं जानती थी कि कौन-सा अनजाना भय उसमें समाया रहता। और फिर भय से संशय, संशय से वितृष्णा, वितृष्णा से मानसिक टूटन, टूटन से ज्ञानबोध का शून्यबोध में परिवर्तन, शून्यबोध यानी संज्ञाहीनता- न चिंतन, न चेतन...।

एक काली वैगन-आर के रुकते ही उसकी विचार-शृंखला टूट गई। उसने देखा एक युवक कार से उतरकर चायवाले की ओर आया, उससे चाय देने को कहा। उसने केतली से प्लास्टिक कप में चाय डाल कर युवक को दी।

युवक ने चाय लेकर एक बार अपनी कार की ओर देखा और फिर सिप लेकर पूछा, यहाँ से शहर कितनी दूर होगा, बाबा ?”

“यहाँ से कोई बीस मील होई। का पहली बार आये हो ?”

“हाँ” युवक ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

चायवाले ने मानसी की ओर देखकर कहा, “बिटिया, आप चाहो तो यहिन के साथ सहर तक चली जाओ, हुवां कउनो टेक्सी, टेम्पू मिल जाई। पानी अबहिनो टिपटिपाय रहा है। बस का कउनो ठिकाना नहीं! हमहूँ अपन दुकान बढावै जाय रहन है।”

मानसी दुविधा में पड़ गई।

युवक ने कहा, “चलिए मैं आपको छोड़ देता हूँ। आप साथ रहेंगी तो रास्ता बताने में मेरी मदद ही करेंगी।

एक क्षण उसने मानसी के चलने की प्रतीक्षा की, फिर कार की ओर चल पड़ा। आशंकाओं में डूबी उतराती मानसी अपने आपको धक्का मारकर कार तक ले आई। युवक ने पिछला दरवाजा खोलकर मानसी को बैठने के

लिए प्रेरित किया। मानसी बैठ गई, दरवाजा बंद हो गया तो उसे लगा कि चूहा स्वयं चलकर मार्जार (बिलाव) के पास आ गया है।

युवक ड्राइविंग सीट पर जा बैठा। इगनिशन में चाबी डाली, घुमाने से पहले बाईं ओर देखकर बोला, “राकेश, उठ! बहुत सो लिया।

“अबे साले...”

युवक ने मुंह पर अंगुली रखकर कहा, ‘इश्श.... पीछे एक महिला बैठी हैं। गाली नहीं।’

सीट पर पसरा हुआ राकेश उठकर बैठ गया। उसने एक नजर पीछे डाली और अपने साथी से कहा, “सॉरी।”

मानसी घबरा उठी। तो यहाँ एक आदमी और बैठा था। बैठा क्या, छिपा था। उसने बताया भी नहीं कि एक आदमी और है कार में। वैसे तो यह बताने की बात भी न थी। क्या करे, उतर जाय! लेकिन कार तो चल रही है। दरवाजे ऑटो लॉक से बंद हो चुके हैं। मानसी संदेहों से घिरी बैठी थी। संदेह जिन सूक्ष्मतरंग प्रमाणों पर आधारित होते हैं उन्हें न तो किसी को दिखाया जा सकता है और न खुद देखे जा सकते हैं। मानसी हर भोक्ता स्त्री के स्थान पर स्वयं को रख लेती थी। इस समय उसके जेहन में वह युवती घूम रही थी जो इंदिरा बैराज से किसी कार में लिफ्ट लेकर चढ़ी थी। कार चालक और उसके साथी ने...

उसने अपना सिर झटका और अपने को कोसने लगी कि इस कार में बैठने से पहले उसने देख क्यों न लिया! और वह ‘साला’ भी सीट में ऐसा पसरा था कि पीछे से उसे कोई देख भी न सके।

कार में चल रहे म्यूजिक सिस्टम की तेज आवाज से उसकी विचार शृंखला भंग हुई ‘रेप’ म्यूजिक था। ओह ‘रेप’! कितना घिनौना है यह शब्द। वे दोनों भी गा रहे थे। क्या दुष्टों के शौक भी एक से होते हैं। निर्भया हादसे को अंजाम देने वाले लोग भी नाच-गा रहे थे। निर्भया और उसका दोस्त दोनों चिल्लाते रहे पर दिल्ली जैसे शहर में किसी ने उनकी मदद न की।

मानसी अतीत की भावुकता से अपने को मुक्त नहीं कर पाई थी संदेह का कछुआ बार-बार अपना सिर बाहर निकालने लगा। उसे याद आया कि निर्भया कांड के बाद

सरकार ने एक वूमन्स हेल्प नंबर जारी किया था। उसने पर्स खोलकर अपना मोबाइल निकाला और स्क्रीन पर 1090 टाइप कर लिया जिससे आवश्यकता पड़ने पर उस नंबर पर तुरंत संपर्क किया जा सके। 'ईश्वर करे मुझे इस नंबर की कभी जरूरत न पड़े।' वह सोच ही रही थी कि मोबाइल उसके हाथ से छूटकर नीचे गिर गया। पता नहीं किस कोण से गिरा कि कार में मैट बिछी होने पर भी उसका पीछे का कवर खुल गया और बैटरी निकल गई। उसने बैटरी ढूंढ़ने की नाकाम कोशिश की। उसकी हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि युवक से अंदर की लाइट जलाने के लिए कहे। उसने मोबाइल बैग में डाल लिया।

विचारों से बाहर आकर उसने सुना कि संगीत वैसे ही जोर-शोर से चल रहा था। राहत पाने के लिए उसने थोड़ी-सी खिड़की खोल दी। हवा का तेज झोंका अंदर आया तो उसके भय के भाव का भोग कुछ कम हुआ।

“मैडम, प्लीज खिड़की बंद कर दें हवा बहुत तेज है।” युवक के स्वर में अनुरोध था।

वास्तव में भय और संदेह के भाव एक साथ संक्रमित होने के कारण उसके सिर में दर्द होने लगा था। सोचा ताजी हवा से कुछ आराम मिलेगा। शीशा ऊपर चढ़ाते हुए कहा, “प्लीज, यह म्यूजिक बंद कर दीजिए। मेरे सिर में दर्द हो रहा है।”

म्यूजिक तत्काल बंद हो गया। सोचा, अब मुसीबत के समय चिल्लाने पर कोई सुन तो सकेगा। इस विचार से उसे थोड़ी राहत मिली।

युवक ने कार में रखे फर्स्ट एड बॉक्स से निकालकर एक टेबलेट उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, “लीजिए यह दवा ले लीजिए। पानी की बोतल पीछे कवर बैग में है।”

मानसी ने सोचा, ‘अच्छा ये चालें चल रहा है, मुझे बेहोश करके...।

प्रकट में, “सिरदर्द में मैं दवाई नहीं लेती।”

“कहीं चाय या काफी के लिए रोकूँ!”

“नहीं, नहीं, इसकी जरूरत नहीं है।” उसने शीघ्रता से कहा।

कुछ देर तक चुप्पी छाई रही। युवक से रहा नहीं गया, पूछा, “बुरा न मानें तो पूछूं।... उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना

पूछा, “उतने वीराने में आप क्या करने गई थीं?”

“जी, मैं अपनी सहेली से मिलने गई थी। लौटने में देर हो गई। बातों में टाइम का पता ही नहीं चला।” फिर एकदम चुप हो गई। सोचा मैं यह सब इसे क्यों बता रही हूँ!”

युवक समझ गया कि लड़की झूठ बोल रही है। अगर सहेली के यहाँ गई होती तो कोई न कोई बस स्टैंड तक पहुँचाने जरूर आता। लेकिन ये तो वहाँ अकेली खड़ी थी। कोई ऐसी-वैसी लड़की न हो, जो गले पड़ जाए।

इंडीकेटर बता रहा था कि पेट्रोल खत्म होने वाला है। युवक ने लड़की से पूछा, “गाड़ी का पेट्रोल खत्म होने वाला है। क्या आसपास कोई पेट्रोल पंप है?”

बात साधारण सी थी पर भीत मन अनावश्यक आशंका से भर उठता है। मानसी ने सोचा, ‘इसके इरादे ठीक नहीं हैं, तभी पेट्रोल खत्म होने की भूमिका बांध रहा है। कहीं सन्नाटे में गाड़ी खड़ी कर देगा और कह देगा कि पेट्रोल खत्म हो गया।’ इसी बहाने दोनों नीचे उतर आएँगे। सफर पर निकलने से पहले लोग टैंक फुल करा लेते हैं। क्या पता पेट्रोल पंप पर इसके एक दो साथी हों! ऐसी कितनी घटनाएं आए दिन होती रहती हैं जिनमें अपराधी अलग-अलग स्थानों पर आ जुटते हैं और घटना को अंजाम देकर जुदा हो जाते हैं। पुलिस ढूँढती रह जाती है। और इसके साथी अगर पेट्रोल पंप पर हुए तो वह उन्हें पीछे ही बिठा लेगा, मेरे पास। ओप्फ!’

उसने अपना आई कार्ड कार में गिरा दिया। किसी हादसे की यह छोटी-सी गवाही होगी। उसे थोड़ी तसल्ली हुई। तभी यह विचार कौंधा कि घटना होने पर पुलिस को शिकार मिलेगा, शिकारी तो गाड़ी लेकर उड़न छू हो चुकेंगे। उसे खीज हो आई- आखिर बचने का कोई तो रास्ता होगा जो उसके दिमाग में नहीं आ रहा है, क्या मेरा दिमाग कुंद है! शायद वह अपने अंतर्द्वन्द्व का शिकार हो गई है। उसने गाड़ी को पेट्रोल पंप की ओर मुड़ते देखा तो आँखें बंद कर ली। किसी संतुष्टि के कारण नहीं बल्कि भय के कारण। उसे लगा अनहोनी कभी भी घट सकती है। कटु कठोर अनुभव के बाद एक दर्दनाक मौत! मौत न भी हो तो एक अपावन या अपाहिज जीवन को लेकर वह क्या करेगी! कैसे जाएगी घर! कौन-सा मुख लेकर समाज में विचरण

करेगी! जो समाज 'बेटी बचाओ' का नारा लगाता है वही उसे जीने नहीं देगा। ताने मार-मार कर मार डालेगा। उसने मन ही मन ईश्वर को, माँ, बाबूजी और भाई को याद किया। भाई... मुझसे उम्र में बड़े होकर भी भाई इसलिए अपनी शादी नहीं कर रहे हैं कि पहले मेरे हाथ पीले करना चाहते हैं। आज सुबह माँ कितनी खुश थी। कहा था, 'जल्दी घर आ जाना नहीं तो लड़के को बुरा लगेगा।' जब नहीं पहुँचूंगी तब... तब... उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। स्पष्ट देखने के लिए आँखों को हथेलियों से पोछकर बाहर देखने लगी।

गाड़ी एसजीपीआईआर पार कर रही थी। मानसी ने एक गहरी सांस ली। लखनऊ का वह मेडिकल रिसर्च सेंटर, जो दूर-दूर तक मशहूर था, अब पीछे छूट रहा था। यहां भी इस वक्त सन्नाटा था। लेकिन ये दोनों लड़के क्यों सन्नाना खींचे बैठे हैं। न आपस में बात कर रहे हैं, न उससे। बात करने से मन का भेद जो खुलता है!

उसे युवक की आवाज सुनाई दी। वह धीरे-धीरे मोबाइल पर किसी से बात कर रहा था, "हाँ, पी.जी.आई. निकल चुका है। मैंने बोर्ड देखा था।... क्या कहा, यहां से सीधे बढ़ना है।... हाँ, ठीक है... नहीं वह अकेला नहीं है। वो साथ है। ठीक है, आपके बताए ठीक पर पहुँचता हूँ।" बात खत्म हो गई। उसने मोबाइल डैश बोर्ड पर डाल दिया।

भय की एक दूसरी लहर मानसी के अंतर में उतर गई। ओह! तो यह अपने किसी साथी से बात कर रहा था। रास्ता मुझसे भी पूछ सकता था। लेकिन उन्हें भी तो सूचित करना था जो इंतजार कर रहे थे। उन्हें बता रहा था कि अकेला नहीं है यानी शिकार साथ में है। भाग्य ने कहाँ फंसा दिया! लगता है कल वह भी एक खबर बन जायेगी। लूट और रेप के बाद हत्या की खबर। एक बिफरी हुई पशुता के आक्रोश का परिणाम! इस बार उसके आँसू पलकों पर ही रुक गये, शायद उसकी तरह वे भी डर गए थे।

रूमाल निकालने के लिए उसने बैग में हाथ डाला। रूमाल के साथ एक पेन भी खिंचा चला आया। पेन वहीं छोड़ा पर उसकी स्मृतियाँ बाहर आकर लिपटने लगीं। भाई ने दिल्ली से लौटने के बाद यह सुनहरा पेन दिया था। कई साल पहले की बात है। बोले थे, "मनु, इसी पेन से

परीक्षा देना। देखना टॉप करेगी।" तब उसने हंसते हुए पूछा था, "अच्छा, क्या इसमें जादू कर दिया है?" बोले थे, "हाँ, जादू, भाई के निश्छल प्रेम का जादू।"

यह पेन उसके लिए लकी साबित हुआ। उस दिन की वह हंसी आज भी याद है, सिर्फ यह याद नहीं कि फिर कब हंसी थी। उसने भावुकता में भर कर पेन को कसकर पकड़ लिया। उसे लगा यह पेन उसका सहारा है। उसके ब्याह का सारा भार भाई पर ही तो है। क्या वह उसे दुल्हन के रूप में देख भी पाएंगे या नहीं।... मेरी क्यों मति मारी गई थी जो इन दरिदों के साथ हो ली।

कार तेजी से भाग रही थी। सड़क के एक ओर कांसीराम पार्क का विस्तार था तो दूसरी ओर दोहरी ऊंची दीवार थी। दोनों दीवारों के बीच बहते नाले को पाटकर चौड़ा फुटपाथ बना था। मखमली घास व पेड़ पौधे लगाकर उसे दर्शनीय बना दिया गया था। उसी रास्ते पर आगे अम्बेडकर, बुद्ध, कांसीराम व पूर्व मुख्यमंत्री की भव्य मूर्तियाँ स्थापित थीं। एक विशाल रमाबाई अम्बेडकर द्वार भी बना हुआ था। इस द्वार को पार करते ही आलमबाग का भीड़ वाला इलाका शुरू हो जायेगा। भीड़ में होने की अनुभूति ने इस वक्त उसे राहत की सांस दी।

गाड़ी जैसे ही बड़ा चौराहा पार कर बाईं ओर मुड़ी, भय के सैकड़ों सर्प फन फैलाकर उसके सामने खड़े हो गए। ऐसा सन्नाटा और एक के बाद एक लगातार ओवरब्रिज। कुछ भी हो सकता है और उसके चिह्न तक मिटाये जा सकते हैं। मानव मन बड़ा शंकालु होता है। वह प्रायः बुरे की ओर भागता है, और वैसे ही विचार बनते हैं। तनावग्रस्त मानसी की मनःस्थिति भी कुछ वैसी ही थी। अंधकार में नष्ट हुई प्रभा की तरह, बुझी हुई अग्निशिखा की तरह, सूखी हुई सरिता की तरह मानसी का आत्म विश्वास अनावश्यक आशंकाओं के कारण शून्य की कोटि में पहुँच गया था। उसकी हताशा ने संघर्ष क्षमता को चाट लिया था। पंजे में फंसे शिकार की तरह उसने शिकारी युवक को निरीहता से देखा। वह मोबाइल पर किसी से बात कर रहा था। हर बार फोन उसके पास आए थे उसने अपनी ओर से नहीं मिलाया था। फोन के दूसरी ओर कौन बेचैन प्राणी था!

गाड़ी की गति कम होते देख वह लगभग चीखकर बोली, “कार धीमी क्यों कर दी है?” उसे लगता कोई आएगा और धीमी गाड़ी का दरवाजा खोलकर पीछे बैठ जाएगा।

“अरे! वो सामने जाम लगा है। मुझे बाईं ओर मुड़ना है।” युवक का स्वर असहज हो आया।

थोड़ी ही देर में रास्ता साफ हो गया और गाड़ी ने रफ्तार पकड़ ली।

मानसी एक बार फिर संदेहों के भंवर में डूबने उतराने लगी। सोचा, ‘क्या यह युवक झूठ बोल रहा कि लखनऊ पहली बार आया है! जब से वह कार में बैठी है तब से उसने एक बार भी उससे या कार रोककर किसी से रास्ता नहीं पूछा है। उसे अच्छी तरह मालूम होगा कि इस सड़क से बाईं ओर कर्बला पड़ता है। इसके फोन वाले साथी उसी सुनसान जगह पर प्रतीक्षा कर रहे होंगे। उसने फोन पर कहा था कि ‘साथ में है’ तो उन्हें यह बता रहा था कि लड़की साथ में है।

जैसे ही कार बाईं ओर मुड़ने को हुई मानसी ने तेजी से कहा, “बस, बस! गाड़ी यहीं रोक दीजिए। मुझे दाईं ओर जाना है। वह सामने मंदिर दिख रहा है उससे थोड़ा आगे मेरा घर है।” मानसी सोच रही थी कि यहां मंदिर में काफी भीड़ है। अगर इसने गाड़ी रोकने में आनाकानी की, या बाईं ओर भगाने की कोशिश की तो वह शोर मचा देगी।

युवक ने शालीनता से कहा, “चलिए, मैं आपको घर छोड़ देता हूँ।”

“नहीं, नहीं। मैं आपको घर नहीं ले जा सकती। मेरे घर के लोग परम्परावादी हैं। इतनी रात को गैर मर्द के साथ देखकर शायद उन्हें अच्छा न लगे।

युवक ने कार रोक दी। “आप परिवार की भावनाओं का इतना ख्याल रखती हैं, नई पीढ़ी के लिए यह गुण आज दुर्लभ है।

युवक ने शीघ्रता से गाड़ी से उतरा और पीछे का दरवाजा खोल दिया। मानसी ने बाहर आकर एक गहरी सांस ली जैसे जीवन में प्रथम बार खुली हवा मिल रही हो।

बिना औपचारिक आभार प्रकट किए हुए ही वह आगे बढ़ गई। युवक ने जोर से दरवाजा बंद किया और जाकर कार में बैठ गया। कार बाईं दिशा में दौड़ पड़ी। मानसी के घर का वही रास्ता था।

गाड़ी के आँख से ओझल होने पर मानसी ने रिवरिया किया और बाईं ओर चल दी। बीस मिनट बाद घर पहुँची तो देखा उसके घर का ड्राइंग रूम खुला है। पर्याप्त रोशनी है। भाई बेचैनी से बाहर की ओर देख रहा था। मानसी को आता देखकर खुश हो उठा। लपककर उसके पास आया और उसे साथ लेकर अंदर पहुँचा। इस बार वह आश्चर्य से जड़ीभूत हो गई जब उसने देखा कि वही कार वाला युवक सोफे पर बैठा है और एक किशोर बालक उसके पास बैठा आँखें झपका रहा है।

मानसी ने बाहर झाँका तो पाया कि कार सड़क के दूसरी ओर पार्क की गई है।

संपर्क :

3/1, टिकैतराय तालाब कालोनी
लखनऊ- 206017, मो. 9235858688

दाग

सुशांत सुप्रिय

रात से ठीक पहले ढलती हुई शाम में एक समय ऐसा आता है जब आकाश कुछ कहना चाहता है, धरती कुछ सुनना चाहती है। जब दिन की अंतिम रोशनी रात के पहले अँधेरे से मिलती है। यह कुछ-कुछ वैसा ही समय था। कनॉट प्लेस में दुकानों की बत्तियाँ जगमगाने लगी थीं। दिन बड़ा गरम रहा था। शाम में ठंडी बीयर पीने के इरादे से मैं 'बोल्गा' रेस्त्रां में पहुँचा। कोनेवाली टेबल पर एक अर्धे उम्र के सरदारजी अकेले बीयर का मज़ा ले रहे थे। न जाने क्यों मेरे क्रदम अपने-आप ही उनकी ओर मुड़ गए।

क्या मैं यहाँ बैठ सकता हूँ? मैंने खुद को सरदारजी से कहते सुना।

बैठो बादशाहो ! बीयर-शीयर लो। सरदारजी दरियादिली से बोले।

शुक्रिया जी। मैंने बैठते हुए कहा।

बातचीत के दौरान पता चला कि क्रोल बाग़ में सरदारजी का हौज़री का बिज़नेस था। जनकपुरी में कोठी थी। वे शादी-शुदा थे। उनके बच्चे थे। उनके पास वाहेगुरु का दिया सब कुछ था। पर इतना सब होते हुए भी मुझे उनके चेहरे पर एक खोएपन का भाव दिखा। जैसे उनके जीवन में कहीं किसी चीज़ की कमी हो। शायद उन्हें किसी बात की चिंता थी। या कोई और चीज़ थी जो उन्हें भीतर ही भीतर खाए जा रही थी।

बातचीत के दौरान ही सरदारजी ने तीन-चार बार मुझ से पूछ लिया, मेरे कपड़ों पर कोई दाग़-वाग़ तो नहीं लगा जी?

मुझे यह बात कुछ अजीब लगी। उनके कपड़े बिल्कुल साफ़-सुथरे थे। मैंने उन्हें आश्चस्त किया कि उनके कपड़ों पर कहीं कोई दाग़ नहीं था। हालाँकि उनके दाएँ हाथ की कलाई के ऊपर कटने का एक लम्बा निशान था। जैसे वहाँ कोई धारदार चाकू या छुरा लगा हो।

फिर मैं सरदारजी को अपने बारे में बताने लगा।

अचानक उन्होंने फिर पूछा- मेरे कपड़ों पर कोई दाग़-वाग़ तो नहीं लगा जी? उनके स्वर में उत्तेजना थी। जैसे उनके भीतर कहीं काँच-सा कुछ चटक गया हो जिसकी नुकीली किरचें उन्हें चुभ रही हों।

मैंने हैरान हो कर कहा- सरदारजी, आप निश्चित रहो। आपके कपड़े बिल्कुल साफ़-सुथरे हैं। कहीं कोई दाग़ नहीं लगा। हालाँकि मैं यह ज़रूर जानना चाहूँगा कि आपके दाएँ हाथ की कलाई के ऊपर यह लम्बा-सा दाग़ कैसा है?

यह सुनकर सरदारजी का चेहरा अचानक पीले पत्ते-सा ज़र्द हो गया। जैसे मैंने उनकी किसी दुखती रग पर हाथ रख दिया हो।

कुछ देर हम दोनों चुपचाप बैठे अपनी-अपनी बीयर पीते रहे। मुझे लगा जैसे मैंने उनसे उनके चोट के दाग़ के बारे में पूछ कर उनका कोई पुराना ज़ख़्म फिर से हरा कर दिया हो। उनकी चुप्पी की वजह से मुझे अपनी ग़लती का अहसास और भी शिद्दत से हो रहा था। कई बार आप अनजाने में ही किसी के व्यक्तिगत जीवन में झाँक कर देखने की भूल कर बैठते हैं हालाँकि इसके जड़ में केवल उत्सुकता ही होती है। पर भूल से आप किसी के जीवन के उस दरवाज़े पर दस्तक दे देते हैं जो बरसों से बंद पड़ा होता है। जिसके पीछे कई राज़ दफ़न होते हैं। जिसका एक गोपनीय इतिहास होता है।

“मैंने आज तक इस ज़ख़्म के दाग़ की कहानी किसी को नहीं बताई। अपने बीबी-बच्चों को भी नहीं। पर न जाने क्यों आज आप को सब कुछ बताने का दिल कर रहा है।” सरदारजी फिर से संयत हो गए थे। उन्होंने आगे कहना शुरू किया- मेरा नाम जसबीर है। बात तब की है जब पंजाब में ख़ालिस्तान का मूवमेंट जोरों पर था। हालाँकि सरकार ने ऑपरेशन ब्लू-स्टार में बहुत से मिलिटेंटों को मार दिया था पर ख़ालिस्तान का आंदोलन जारी था। हमें

लगता था, हमारे साथ भेदभाव हो रहा था। पंजाब के बाहर लोग हमें देख कर ताने मारते थे—सरदारजी, खालिस्तान कब ले रहे हो!

मैं उन दिनों खालसा कॉलेज, अमृतसर में पढ़ता था। हम में से कुछ सिख युवकों के लिए खालिस्तान का सपना दिल्ली दरबार की ज्यादतियों के विरुद्ध हमारे विद्रोह का प्रतीक बन गया। हम महाराजा रणजीत सिंह के सिख राज्य को फिर से साकार करने के लिए काम करने लगे। मैं सिख स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन का सरगर्म कार्यकर्ता था। पुलिस के अत्याचार देख कर मेरा खून खौल उठता। 1985 में मैं मिलिटेंट मूवमेंट में शामिल हो गया। हथियार हमें पड़ोसी देश से मिल जाते थे। उसका अपना एजेंडा था। अत्याचारियों से बदला लेना और खालिस्तान की राह में आ रही रुकावटों को दूर करना ही हमारा मिशन था। मैं अपने काम में माहिर निकला। दो-तीन सालों के भीतर ही मैं अपनी फ़ोर्स का कमांडर बन गया। पुलिस ने मुझे 'ए' कैटेगरी का आतंकवादी घोषित कर दिया। मेरे सिर पर बीस लाख का इनाम रख दिया गया।

“इन्हीं दिनों हमारी फ़ोर्स में एक नया लड़का सुरिंदर शामिल हुआ। उसने मुझे बताया कि इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद नवंबर-दिसंबर, 1984 में दिल्ली में हुए सिख-विरोधी दंगों में उसका पूरा परिवार मारा गया था। उसके अनुसार दंगाइयों ने उसके बूढ़े माँ-बाप और भाई-बहनों के केश कतल करने के बाद उनके गले में टायर डाल कर उन्हें ज़िंदा जला दिया था।” सुरिंदर ने कहा कि अब वह केवल बदला लेने के लिए जीवित था। उसने बताया कि वह सिखों के दुश्मनों को मिट्टी में मिला देना चाहता था। उसकी बातें सुन कर मुझे लगा कि हमारी फ़ोर्स को ऐसे ही नौजवान की ज़रूरत थी। मुझे सुरिंदर हमारे मिशन के लिए हर लिहाज़ से सही लगा। मैंने उसे अपनी फ़ोर्स में शामिल कर लिया।

“कुछ दिन बाद एक रात हमने मिशन के एक काम पर जाने का फ़ैसला किया। मैं, सुरिंदर और हमारे कुछ और लड़के मोटर साइकिलों पर सवार हो कर रात बारह बजे अमृतसर के सुल्तानविंड इलाक़े से गुज़र रहे थे। हमारे पास ए.के.47 राइफलें थीं। हम सब ने शालें ओढ़ी हुई थीं। सुरिंदर मोटर साइकिल चला रहा था और मैं उसके पीछे

बैठा था। वह रहस्य और रोमांच से काँपती हुई रात थी।”

“अचानक बीस-पच्चीस मीटर आगे हमें पुलिस का नाका दिखाई दिया। पुलिस की दो-तीन जिप्सी गाड़ियाँ और दस-पंद्रह जवान वहाँ खड़े थे। हम सब ने अपनी-अपनी मोटर साइकिलें रोक लीं। पुलिस वालों ने देखते ही हमें ललकारा। मैं वहाँ एन्काउंटर नहीं चाहता था। हम आज रात एक खास मिशन के लिए निकले थे। मेरे इशारे पर बाक़ी लड़के अपनी-अपनी मोटर साइकिलें मोड़ कर पास की गलियों में निकल भागे। पर सुरिंदर हथियारबंद पुलिसवालों को देखते ही डर के मारे आँधी में हिल रहे पत्ते-सा काँपने लगा। मेरे लाख आवाज़ देने के बावजूद वह मोटर साइकिल पकड़े अपनी जगह पर जड़-सा हो गया। पुलिस वाले पास आते जा रहे थे। मजबूरन मैंने अपनी शाल हटाई और पुलिस वालों को डराने के लिए अपनी ए.के.47 से हवाई फ़ायरिंग की। पुलिस वाले रुक गए। इस मौक़े का फ़ायदा उठा कर मैं सुरिंदर को घसीटते हुए पास की गली की ओर ले भागा। हमें भागता हुआ देख कर पुलिस वालों ने हम पर फ़ायरिंग शुरू कर दी। एक गोली सुरिंदर की जाँघ में आ लगी। तब तक मेरे कुछ साथी हमें बचाने के लिए वापस लौट आए थे। गोली-बारी के बीच घायल सुरिंदर को सहारा दिए मैं और मेरे बाक़ी साथी मोटर-साइकिलों पर बैठ कर किसी तरह बचते-बचाते वहाँ से निकल भागे।

“अपने छिपने के ठिकाने पर पहुँच कर मैंने सुरिंदर से पूछा, “तू भागा क्यों नहीं था?” पर उसका चेहरा डर के मारे राख के रंग का हो गया था। उसके मुँह से आवाज़ नहीं निकल रही थी। हमने उसकी जाँघ में लगी गोली निकाल कर उसकी मरहम-पट्टी की। अब वह अगले पंद्रह-बीस दिनों तक वैसे भी किसी मिशन पर जाने के लायक नहीं था। पर मेरा दिल उस घटना से खट्टा हो गया था। उस दिन सुरिंदर को पुलिसवालों के सामने डर से थर-थर काँपता देख कर मैं खुद से शर्मिंदा हुआ कि यह मैंने किस कायर को अपनी फ़ोर्स में शामिल कर लिया था।

“पर मिशन के काम तो नहीं रुक सकते थे। खालिस्तान बनाने का सपना लिए हम दिन-रात अपने काम पर जुटे रहते। कभी सिख युवकों पर अत्याचार करने वाले किसी

व्यक्ति को रास्ते से हटाना होता, कभी अपने किसी साथी को पुलिस की हिरासत से छुड़ाना होता। मैं और मेरी फ़ोर्स के बाक्री लड़के सुरिंदर को अपने ठिकाने पर छोड़कर हर दूसरी-तीसरी रात में किसी-न-किसी मिशन पर निकल जाते। सुबह चार-पाँच बजे तक हम अपना काम करके वापस लौट आते। कभी-कभी दिन में भी मिशन के काम से जाना पड़ता। हालाँकि सुरिंदर का हमारी फ़ोर्स में आना हमारे लिए बदक्रिस्मती जैसा ही था। जब से वह आया था, हमारे बहुत-से साथी पुलिस के साथ हुई मुठभेड़ों में मारे जाने लगे थे। ख़ैर! यही हमारा जीवन था। कभी मिशन के कामयाबी की खुशी। कभी साथियों के बिछुड़ने का ग़म।

हमारी देखभाल के कारण सुरिंदर की जाँघ में लगी गोली का ज़ख़म धीरे-धीरे ठीक होने लगा था। मुझे लगा, मुझे उसे खुद को साबित करने का एक और मौक़ा देना चाहिए। शायद वह इस बार हमारी उम्मीदों पर ख़रा उतर सके। मैं उसके पूरी तरह ठीक हो जाने का इंतज़ार करने लगा।

“एक रात अपना काम निबटा कर हम सभी वापस अपनी रिहाइश की ओर लौट रहे थे। वह सलेटी आकाश, भीगी हुई हवा और पैरों के नीचे मरे हुए पत्तों का मौसम था। सुबह के चार बज रहे थे। जुगनुओं की पीठ पर तारे चमक रहे थे। मैं सबसे आगे था। घर में चुपके से घुसने पर मैंने पाया कि कि सुरिंदर जगा हुआ था और दूसरे कमरे में किसी से फ़ोन पर बातें कर रहा था। मुझे हैरानी हुई। मैंने उसके पास जा कर छिप कर उसकी बातें सुनीं तो मेरे होश उड़ गए। सुरिंदर पुलिसवालों से बातें कर रहा था और उन्हें हमारे बारे में खुफ़िया जानकारी दे रहा था। उसने हमें पकड़वाने के लिए शायद पहले से ही पुलिसवाले भी बुला रखे थे। मैं सन्न रह गया।

“हमारे साथ धोखा हुआ था। दुश्मन दोस्त का भेष बना कर आया था। वह पुलिस का मुखबिर है, यह जानकर मेरा खून खौल उठा।’ ओए गद्दार ’- मैं गुस्से से चीखा और अपनी किरपान निकाल कर मैंने उस पर हमला कर दिया और उसे घायल कर दिया। हम दोनों गुथमगुथ्था हो गए। पर तभी आसपास छिपे पुलिसवाले घर का दरवाज़ा तोड़कर अंदर आ गए और उन्होंने मुझे

घेर लिया। उनकी स्टेन-गन और कार्बाइन मेरे सीने पर तनी हुई थीं।” इतना कह कर सरदारजी चुप हो गए। उन्होंने धीरे से अपना गिलास उठाया और गिलास में बची बाक्री बीयर ख़त्म की।

“सुरिंदर का क्या हुआ? मैंने उत्सुकतावश पूछा।”

“पुलिस ने उसे मेरे सिर पर रखे इनाम के बीस लाख की रक़म का आधा हिस्सा दे दिया। दस लाख रुपए ले कर वह वापस दिल्ली भाग गया।” सरदारजी बोले।

आपको उसके बारे में इतना कैसे पता? मैं हैरान था।

यह सुनकर सरदारजी का चेहरा स्याह हो गया। उनके हाथ काँपने लगे। ए.सी. में भी उनके माथे पर पसीना छलक आया।

आख़िर किसी तरह कोशिश करके उन्होंने कहा, “क्योंकि मैं जसबीर नहीं हूँ। मैं ही वह बदनसीब सुरिंदर हूँ। वह ग़द्दार मैं ही हूँ। मैंने वह कहानी जान-बूझकर आपको दूसरे ढंग से सुनाई थी।” सरदारजी के हाथ अब भी थरथरा रहे थे।

उनकी बात सुनकर मैं हतप्रभ रह गया। प्याज़ की परतों की तरह इस कहानी में रहस्य की कई तहें थीं जो एक-एक करके खुल रही थीं।

“मेरे दाएँ हाथ की कलाई के ऊपर इस ज़ख़म का दाग़ मुझे जसबीर ने दिया था जब मेरी असलियत जानकर उसने किरपान से मुझ पर हमला किया था।” सरदारजी ने आगे कहा।

“जसबीर का क्या हुआ?” मैं अब भी इस अजीब पहली को समझने का प्रयास कर रहा था।

“उस दिन सुबह साढ़े चार बजे के आसपास उसके लिए दुनिया रुक गई। पुलिसवालों ने उसे मेरे सामने ही गोली मार दी। उस समय वह निहत्था था। उस दिन उसके फ़ोर्स के ज़्यादातर लड़कों को पुलिसवालों ने धोखे से मार दिया। उन सबकी मौत का ज़िम्मेदार मैं हूँ।” सरदारजी ने भारी स्वर में कहा। कुएँ के तल में जो अँधेरा होता है, वैसा ही अँधेरा मुझे उनकी आँखों में नज़र आया।

“आप दुखी क्यों होते हैं? आख़िर वे सब आतंकवादी थे।” मैंने उन्हें दिलासा दिया।

“हर आदमी के भीतर कई और आदमी रहते हैं। यह

आप पर निर्भर करता है कि आप उसके किस रूप के दरवाजे पर दस्तक देते हैं। मुझे नहीं मालूम वे आतंकवादी थे या गुमराह नौजवान। मैं तो सिर्फ इतना जानता हूँ कि पैसों के लालच में आ कर मैंने उस आदमी को धोखा दिया, उस आदमी से गद्दारी की जिसने अपनी जान पर खेल कर मुसीबत में मेरी जान बचाई थी। जिसने मेरी देख-भाल करके मेरे ज़ख्म ठीक किए थे। उसे पुलिस के हाथों मरवा कर मुझे रुपए-पैसे तो बहुत मिले पर उस दिन से मेरे दिल का चैन खो गया। मेरी अंतरात्मा मुझे रह-रह कर धिक्कारती है कि तू दगाबाज़ है। मैं रात में बिना नींद की गोली खाए नहीं सो पाता। मेरे सपने मेरी वजह से मरे हुए लोगों से भरे होते हैं। मेरे सपनों में अक्सर दर्द से तड़पता और लहुलुहान जसबीर आता है। वह मुझ से पूछता है- “मैंने तो तेरी जान बचाई थी। फिर तूने मुझे धोखा क्यों दिया?” और मैं उससे नज़रें नहीं मिला पाता। उसकी फटी हुई आँखें, उसके बिखरे हुए बाल, उसकी खून से सनी पगड़ी और उसके सीने में धँसी कार्बाइन और स्टेन-गन की गोलियाँ मुझे इतनी साफ़ दिखाई देती हैं जैसे यह कल की बात हो, हालाँकि इस घटना को हुए पच्चीस साल गुजर गए। मेरा अतीत एक ऐसा शीशा है जिसमें मुझे अपना अक्स बहुत बिगड़ा हुआ नज़र आता है। एक चीख़ दफ़्न है मेरे सीने में। मैंने जीवन में जो हथकड़ी बनाई है, मैं उसे पहने हूँ। इतना कह कर सरदारजी ने लम्बी साँस ली।

“होनी को कौन टाल सकता है, सुरिंदर भाई। पर अब तो आपके पास काफ़ी पैसा होगा। आप प्लास्टिक-सर्जरी करवा कर अपने हाथ के उस ज़ख्म का यह दाग़ क्यों नहीं हटा लेते? आप रोज़-रोज़ जब अपनी दाईं कलाई के ऊपर यह दाग़ नहीं देखेंगे तो वक़्त बीतने के साथ-साथ शायद आप इस हादसे को भी भूल जाएँगे।” मैंने सरदारजी को सांत्वना देते हुए सलाह दी।

सरदारजी ने कातर निगाहों से मुझे देखा और बोले- “समंदर के पास केवल खारा पानी होता है। अक्सर वह भी प्यासा ही मर जाता है। जब पुलिसवालों ने जसबीर को गोली मारी थी तो मैं उसके बगल में ही खड़ा था। मेरे कपड़े उसके खून के दाग़ से भर गए थे। मेरे हाथ उसके

खून के छींटों से सन गए थे। अब रहते-रहते मुझे ऐसा लगता है जैसे मेरे कपड़ों पर, मेरे हाथों पर खून के दाग़ लगे हुए हैं। मैं बार-बार जा कर वाश-बेसिन में साबुन से हाथ धोता हूँ। पर मुझे इन दाग़ों से छुटकारा नहीं मिलता। मैंने बहुत दवाइयाँ खाईं जी साइकैट्रिस्ट से भी अपना इलाज करवाया। पर कोई फ़ायदा नहीं हुआ। आपने ठीक कहा। आज मेरे पास पैसे की कमी नहीं। बाहेगुरु का दिया सब कुछ है। प्लास्टिक-सर्जरी करवा कर मैं अपनी दाईं कलाई के ऊपर बन गए इस दाग़ से छुटकारा भी पा जाऊँगा। पर मेरे ज़हन पर, मेरे मन पर जो दाग़ पड़ गए हैं, उन्हें मैं कैसे मिटा पाऊँगा?”

मैं चुपचाप उन्हें देखता-सुनता रहा। मेरे पास उनके सवाल का कोई जवाब नहीं था। उनके भीतर एक जमा हुआ समुद्र था। उनका दुख जीवन जितना बड़ा था।

हमने वेटर को बुला कर बीयर और टिप के पैसे दिए और ‘बोल्गा’ से बाहर निकल आए। नौ बज रहे थे। बाहर हवा में रात की गंध थी। जगमगाते शो-रूमों के पीछे से आकाश में आधा कटा हुआ पीला चाँद ऊपर निकल आया था।

अचानक वे खोए हुए अंदाज़ में फिर से बोल उठे- “मेरे कपड़ों पर कोई दाग़-वाग़ तो नहीं लगा जी?” उनके माथे पर परेशानी की शिकन पड़ गई थी। उनकी आँखों में क्रब्र का अँधेरा भरा हुआ था। वे अपने भीतर फँसे छटपटा रहे थे।

मैंने सहानुभूतिपूर्वक उनके कंधे पर हाथ रखा। वे जैसे दूर कहीं से वापस लौट आए। समय के विराट् समुद्र में कुछ खामोश पल ओस की बूँदों-से टप्-टप् गिरते रहे।

उनसे विदा लेने का समय आ गया था। मैंने उनसे हाथ मिलाने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया। पर उनकी आँखों में पहचान का सूर्यास्त हो चुका था।

“कुछ ज़ख्म कभी नहीं भरते, कुछ दाग़ कभी नहीं मिटते,” वे आकाश की ओर देख कर बुदबुदाए और मेरे बढ़े हुए हाथ को अनदेखा कर पार्किंग में खड़ी अपनी होंडा सिटी की ओर बढ़ गए। मैं उनकी गाड़ी को दूर तक जाते हुए देखता रहा।

संपर्क :

A-5001, गौड़ ग्रीन सिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम, गाज़ियाबाद-201010 (उ.प्र.), मो. 08512070086

बाथ तुम्हारा ही तो है देवेन्द्र कुमार मिश्रा

हाथ में चाकू लिए वह पिता के कमरे की तरफ बढ़ा। पिता गहरी नींद में थे। पिता के चेहरे पर दृष्टि पड़ते ही बचपन की स्मृतियाँ हिलोरे मारने लगी। पिता उसे गोद में खिला रहे हैं। हाथ पकड़ाकर स्कूल ले जा रहे हैं। उसके रोने पर उसे चुप कराने के लिए खिलौने दे रहे हैं। उसके चेहरे पर हंसी लाने के लिए जोकर की तरह हरकतें कर रहे हैं। वह कमरे से बाहर आ गया। ये क्या करने जा रहा था वह ? अपने पिता की हत्या, उफ़ कितना घृणित विचार था। क्या सिर्फ इसलिए कि पिता ने उसके कुछ भी मांगने पर यही उत्तर दिया कि मेरे बाद सब तुम्हारा ही तो हैं। लेकिन जरूरत तो अभी है। अभी क्यों नहीं देते। बचपन में तो एक से एक कपड़े, खिलौने और खाने की चीजें लाकर देते थे। फिर अब क्यों नहीं देते। उसने मास्टर डिग्री पूर्ण होते ही नौकरी की तलाश शुरू कर दी और पिता ने उसके स्कूल पूर्ण करते ही उसके खर्च में कटौती प्रारंभ कर दी थी। कॉलेज आते-आते तक तो वह तरसने लगा था, छोटे-बड़े शौक पूरे करने के लिए। वह पिता से मांगता, अनुरोध करता, मिन्नतें करता। लेकिन उसके पिता उससे कहते, ‘अब तुम बड़े हो गये हो। केवल अति आवश्यक चीजों पर ही खर्च करूँगा। तुम्हें पैसों की कीमत समझनी चाहिए। इस घर में तुम्हारा रहना, खाना सब फ्री है। पढ़ाई का खर्चा उठा ही रहा हूँ और इससे ज्यादा नहीं कर सकता। कपड़े हैं तो तुम्हारे पास चार जोड़ी। इससे ज्यादा क्या करोगे ? मोबाइल, मोटर साइकिल जो युवाओं के लिए जरूरत थी, समय की। उसे पिता ने ये कहकर लेने से मना कर दिया था कि घर में लेंडलाइन है। फिर मोबाइल खरीदने भर से चल नहीं जाता। उसे रिचार्ज कराने के लिए बार-बार पैसे कहाँ से लाओगे ? गाड़ी में पेट्रोल लगता है। इस उम्र में बार-बार बाप से पैसे मांगना ठीक नहीं है और न ही पिता ये फिजूलखर्ची बर्दाश्त कर सकते हैं। लेकिन ये जरूरी चीजें थी आज के समय में। वह मन मारकर जीता रहा। दोस्तों के सामने उपेक्षित होता रहा। दोस्तों के पास ये सब चीजें देखकर उसका मन ललचाता, तड़फता, तरसता और वह बार-बार पिता से आग्रह करता। पिता द्वारा उसके प्रस्ताव को ठुकराये जाने पर वह माँ से कहता। माँ उसे समझाती। अभी पढ़ाई पर ध्यान दो। एक बार नौकरी पर लग जाओ फिर जो चाहे खरीद लेना। वह फिर अपनी माँ से इच्छाओं के लिए गिड़गिड़ाता। माँ उसके पिता से बेटे की इच्छा रखने के लिए कहती। पिता अपनी पत्नी को समझाते हुए कहते- “बुढ़ापे में पैसा ही काम आता है। आज सब इन पर खर्च कर दे और कल

जब जेब में रुपये न होंगे तो यही बेटा पानी तक के लिए नहीं पूछेगा। देख नहीं रही हो आजकल के लड़को को। शर्माजी ने अपने बच्चों के लिए क्या कुछ नहीं किया। बच्चों के शौक पूरे करते-करते कंगाल हो गये। बेटों ने अपनी अलग दुनिया बसा ली। अब बूढ़े माता-पिता अकेले दो कमरे के मकान में पड़े रहते हैं और बेटे शानदार बंगले में रहते हैं। नौकर-चाकर, कार, सारी सुख सुविधाएँ हैं। ये सब किसकी बदौलत। बाप ने ही किया है न सब। बेटे की नौकरी के लिए लाखों रुपयों की रिश्वत दी। बेटे के लिए कॉलोनी में अलग मकान खरीदा और आज वही बेटा उन्हें पूछता तक नहीं। शर्माजी के पास बैंक बैलेन्स होता तो उनके पास मक्खी की तरह भिनभिनाते। फिल्मों में नहीं देखा। अवतार नहीं देखी राजेश खन्ना की।”

“तो बेटा यूँ ही तरसता रहे।” माँ कहती।

“नहीं, अपने दम पर करे।” पिता उत्तर देते।

“और यदि नहीं कर पाया तो” माँ चिंतित स्वर में कहती।

“तो फिर हम तो हैं। हमने उसके लिए ही तो जोड़ा है। हम इसे अपने साथ तो नहीं ले जायेंगे” पिता गर्व से कहते।

माँ बेटे के सिर पर प्यार से हाथ रखकर कहती। “सब तुम्हारा ही तो है।”

“लेकिन किस काम का माँ। मुझे आज जरूरत है। बाद में ये सब मेरे किस काम का।”

“बेटे के प्रश्न पर माँ चुप हो जाती। ऐसा तो नहीं है कि पिता के पास कोई कमी थी। अच्छा बैंक बैलेंस, गाड़ी मकान, सब था उनके पास। सिंचाई विभाग में इंजीनियर के पद से रिटायर हुए थे। घर में सारी सुख-सुविधाएँ थी। पेंशन भी अच्छी खासी थी। फिर बेटे के लिए कुछ क्यों नहीं निकलता पिता की जेब से। आज जब उसके दोस्त फर्गट से अपनी मोटर साइकिल पर जाते तब वह सिटी बस में धक्के खाता। उसके दोस्त तरस खाकर उसे लिफ्ट दे देते। वह स्वयं को हीन और तुच्छ महसूस करता। लेकिन ये सोच-सोच कर स्वयं को तसल्ली देता कि आज नहीं तो कल मेरी नौकरी लग जायेगी। तब सारी इच्छायें पूरी कर लूँगा। इस तरह मन मारकर पिता के साधन

सम्पन्न होते हुए भी अभाव की सी जिन्दगी जी रहा था। दोस्तों की मोटर साइकिल पर पीछे बैठकर वह कॉलेज जाता। दोस्तों के खर्च पर वह सिनेमा, पिकनिक, पार्टी में शामिल होता। उसके एक मित्र विनोद ने कहा भी था एक बार- “तुम्हारे पिता तुम्हारे लिए इतना तो कर ही सकते हैं। एक गाड़ी, एक मोबाइल, जेब खर्च के लिए कुछ रुपये।”

“उन्होंने कई बार स्पष्ट मना कर दिया।” वह उदास होकर बोला।

“क्या वे तुम्हारे वास्तविक पिता हैं।” मित्र ने संदेह व्यक्त किया। “आजकल ये चीजें आम हैं। जरूरी हैं।”

“वे इसे फिजूलखर्ची मानते हैं।” वह बोला।

“लेकिन तुम्हारे पिता सम्पन्न हैं। कर सकते हैं, इतना तुम्हारे लिए।”

“वे कहते हैं मेरे बाद सब तुम्हारा है।”

“उनके बाद, “विनोद ने कहा- “तो क्या वे चाहते हैं कि तुम उनके मरने की प्रतीक्षा करो या उन्हें मार डालो।”

“इस बात पर उसने विनोद को डांट दिया था। किंतु अब इस समय उनके भविष्य का सवाल था। उसकी आखिरी उम्मीद थी यह नौकरी। उसने पिता से कहा- “मेरी आयु नौकरी के लिए समाप्त हो रही है। यह अंतिम अवसर है। पांच लाख रुपये की मांग हो रही है। मैं लिखित परीक्षा अपनी मेहनत से पास कर चुका हूँ साक्षात्कार भी उत्तीर्ण कर चुका हूँ। ज्वॉइन लेटर पांच लाख देने के बाद ही मिलेगा।”

पिता ने स्पष्ट इंकार करते हुए कहा- “तुम योग्य हो तो जरूर तुम्हें नौकरी मिलेगी।”

“केवल योग्यता से काम नहीं चलता।”

“मैं तुम्हें रुपये नहीं दे सकता।”

“आप उधार समझकर दे दीजिए।”

“नहीं।”

“आप ब्याज पर दे दीजिए।”

“अपनी बकवास बंद करो।”

उसके आँसू निकल आये। उसने माँ से कहा। माँ ने उसके पिता से बहुत मिन्नते की। लेकिन उन्होंने कहा- “अभी कुछ नहीं दूँगा। मेरे बाद सब उसका है।”

नौकरी किसी और को मिल गई। वह उदास हो गया। उसकी अंतिम आस भी टूट गई। विनोद का स्वर उसके

कानों में गूँजने लगा।

“तो क्या वे चाहते हैं कि तुम उनके मरने की प्रतीक्षा करो या उन्हें मार डालो।”

उसके मन में खूनी विचार पनपा। वह चाकू लेकर पिता के कमरे में गया और पिता के चेहरे पर दृष्टि पड़ते ही पिता का स्नेह याद आ गया। वह वापिस आ गया अपने कमरे में। अपने विचारों पर उसे शर्मिंदगी हुई।

पिता की उम्र 65 वर्ष की थी। उनके अपने अनुभव थे। उन्होंने देखा कि गरीब माता-पिता की संताने उन्हें त्याग देती हैं। वे स्वयं को आर्थिक रूप से मजबूत रखना चाहते थे। ताकि उनका बुढ़ापा उन लोगों की तरह न गुजरे। जिन्होंने अपनी संतानों का भविष्य संवारने के लिए अपनी जीवन भर की जमा पूंजी खो दी और माँ-बाप कष्ट तकलीफों में मरते रहें।

माँ बेचारी क्या कहती। पुत्र की परेशानी देखकर पति से कहती। लेकिन पति उसे संसार की सच्चाई और संतानों की स्वार्थता की मिसाल देकर चुप करा देते। वह पूरी तरह से निराश हो चुका था। सरकारी नौकरी की आखिरी उम्मीद भी खो चुका था। व्यापार के लिए पिता से धन प्राप्ति की उसे कोई उम्मीद न थी और न ही वह कहना चाहता था। उसे अपने पिता से चिढ़ सी होने लगी थी। मर जायेंगे तो अपने साथ बाँधकर ले जायेंगे अपनी धन-दौलत। नहीं चाहिए मुझे तुम्हारा रुपया तुम्हारी मदद। आखिर मेरा भी अपना आत्म-सम्मान है। जब सबसे ज्यादा जरूरत थी। तब नहीं दिये तो अब तो जीवन मात्र जीना है। व्यापार न सही। कोई अच्छा सा प्राइवेट जॉब ही सही। वह प्राइवेट कंपनियों के दरवाजे पर दस्तक देने लगा। उसके सारे दोस्त अच्छे सरकारी नौकरी में थे या अपना व्यवसाय शुरू कर चुके थे। पिता देखते रहे खामोशी से पुत्र के चेहरे की उदासी को। उसके मलिन होते स्वप्नों को। पिता कभी-कभी अकेले में उदास भी हो जाते। उन्हें लगता कि बेटे के नाम पर कितनी एफ.डी. कितनी रकम जमा कर चुके हैं। क्यों न उसे तोड़कर कुछ दे दिया जाये। लेकिन जैसे ही उनका वात्सल्य जागता। अगले ही पल परिचितों के नालायक पुत्रों के चेहरे उनके आगे घूम जाते। पीड़ित माता-पिता का एकांत, उदासी, गरीबी, व्यथा में

उन्हें अपना चेहरा नजर आने लगता। वे फिर अपना हाथ पीछे खींच लेते।

छोटे-छोटे प्राइवेट जॉब करते-छोड़ते उसकी उम्र चालीस की हो गई। कहीं उसे इतना वेतन नहीं मिल रहा था कि अपने जीवन का निर्वहन स्वयं कर सके। अपने लिए रोटी-कपड़ा और मकान स्वयं जुटा सके। ऐसे में जो विवाह प्रस्ताव आये। उन्हें वह मना करता रहा। पिता की कठोरता ने उसे भी कठोर बना दिया था। माँ ने विवाह के लिए जोर दिया, तो उसने स्पष्ट शब्दों में कहा, “मेरे वेतन पर मेरा ही गुजारा नहीं होता। दूसरे को क्या खिलाऊंगा?” माँ ने जैसे ही कहा- “हम लोग तो हैं।” उसने क्रोधित होकर कहा- “मुझे तुम लोगों का एक पैसा भी नहीं चाहिए। तुम लोगों का पैसा मेरे लिए हाराम है।”

“ऐसा नहीं कहते बेटा” माँ ने रोते हुए कहा “सब तुम्हारा ही तो है।”

बेटे ने क्रोध में कहा, “मेरा कुछ नहीं है। अपने बुढ़ापे की चिंता में आप लोगों ने मेरे पूरे जीवन को अभावग्रस्त कर दिया। छोटी-छोटी चीजों के लिए मन को मारकर जिया हूँ मैं। अब तो अधेड़ अवस्था की ओर जा रहा हूँ। इस उम्र में कुछ मिला भी तो क्या? अब इच्छा नहीं हो रही किसी चीज की। “कहते-कहते उसकी आँखों में आँसू आ गये। वह बाहर निकल गया। उसकी बाते पिता के कानों तक पहुँच गई। पिता को अपनी कठोरता पर अफसोस हुआ। “उफ़ मेरा बेटा चालीस साल का हो गया। अधेड़ अवस्था में पहुँच गया और मैं पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर अपने बुढ़ापे के लिए बचाता रहा। मैंने कुछ नहीं किया अपने बेटे के लिए। मेरे बेटे को न नौकरी मिली। न उसका विवाह हो पाया। कितना गिड़गिड़ाया समय-समय पर मेरे सामने। लेकिन मैंने उसकी एक भी इच्छा पूरी नहीं की। लानत है मेरे पिता होने पर। मैंने अपने बेटे की जवानी को जीवन के कठोर हाथों में देकर उसे नष्ट कर दिया।” नहीं, नहीं बहुत हो गया। अब और नहीं। अब सारी बचत राशि को तोड़कर बेटे के लिए अच्छे व्यवसाय की व्यवस्था करूँगा। लेकिन उसके पहले मैं उसके लिए एक बढ़िया स्मार्ट फोन, एक मोटर साइकिल और ढेर सारे कपड़े खरीदूँगा। पिता सारी एफ.डी. लेकर बैंक की ओर चल पड़े।

“आप कल से काम पर न आयें।” मैनेजर ने कहा।
 “क्यूँ सर, क्या गलती हो गई मुझसे” उसने पूछा।
 “देखिये, हमें चार हजार मासिक का कर्मचारी मिल गया है। फिर हम आपको पाँच हजार महीने क्यों दें।” मैनेजर ने कहा।
 “लेकिन सर”
 “सारी”

वह उदास कदमों से ऑफिस के बाहर निकल गया। उफ़ क्या बदनसीबी है। पाँच हजार की नौकरी के लायक भी नहीं है वह। बेकार है मेरा जीवन। क्या करूँगा जीकर। चालीस साल में इस लायक भी नहीं हुआ कि अपने जीवन को उचित शिक्षा दे सकूँ। वह अंदर से टूट चुका था। इस उम्र में अब किस कंपनी के दफ्तर में नौकरी मांगता फिरूँ। वह छोटे शहर का निवासी था। यहाँ प्राइवेट स्कूल, कॉलेजों, दफ्तरों में पाँच हजार रुपये पर ही लोग रखे और निकाले जाते हैं। यहाँ मुम्बई, दिल्ली की कंपनियों की तरह कोई नहीं पूछता कि आप कितना वेतन लेंगे। उन्हीं कंपनियों के दफ्तर छोटे शहरों में होते

हैं तो वेतन छोटे शहर के हिसाब से ही मिलता है। वह शराब की दुकान के आगे से गुजरा। आगे बढ़ा और रुक गया। हार की मार बर्दाश्त करने की क्षमता नहीं थी उसमें। शरीफ, ईमानदार बनके भी क्या हासिल कर लिया उसने। वह शराब की दुकान में चला गया। कुछ देर बाद वापिस निकला। तब उसके कदमों में लड़खड़ाहट थी, जीवन से निराशा की। पिता के कंजूसी भरे कठोर व्यवहार की। वह बड़बड़ाता हुआ कदम बढ़ाने लगा। कई छोटे-मध्यम आकार के वाहनों से टकराता, बचता चलता रहा। सामने तीव्र गति से एक ट्रक आ रहा था। उसे संभलने का होश नहीं था। उसने ट्रक देखकर भी अनदेखा कर दिया। ट्रक वाले ने अंतिम स्तर पर बचाने का प्रयास किया। किंतु इतनी तीव्र गति में तो ब्रेक भी काम नहीं करते और दिमाग भी। एक चीख के साथ वह ट्रक की चपेट में आ गया। पुत्र का शव सामने पड़ा था। माँ बेहोश हो चुकी थी पुत्र की लाश देखकर। और पिता अपने बेटे की लाश पर जमा रकम के काजगात, मोबाईल, महंगे कपड़े रखकर रो रहे थे।

संपर्क :

पाटनी कॉलोनी, भरत नगर, चन्दनगाँव
 छिन्दवाड़ा (म.प्र.)- 480001, मो. 9425405022

तेलुगु कहानी

जब भी जगह चाहिए

मूल: उदयमित्र

अनुवादक : आर. शांता सुंदरी

आज कोई कहानी ज़रूर लिखनी होगी। बहुत दिनों से अंदर कुछ भावनाएं कुलबुला रही हैं। लिखने का मन हो तो अंदर छटपटाहट शुरू हो जाती है। पर यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि क्या लिखूँ? बिना लिखे भी नहीं रहा जाता। कई बार राह चलते या बस में सफर करते समय बहुत ही बढ़िया विषय सूझते हैं। गति और सृजन का कोई संबंध हो सकता है, शायद!

यूँ ही मार्किट की तरफ चल पड़ूंगा तो कोई विषय वस्तु मिल ही जाएगी, यह सोचकर घर से निकला... वो जा रहा है बजरंग... उसकी माँ के बारे में लिखूँ तो कैसा रहेगा? बेचारी जब तक बाजुओं में ताकत थी खटती रही। उसका मर्द शराब पी पीकर असमय ही मर गया तो बड़ी मुश्किल से उसने बच्चों को पाल पोसकर बड़ा किया। अब उसे बच्चों ने एक कमरे में डाल दिया। मच्छर, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं, तो भी कोई आकर देखता नहीं। ऊपर से अपनों के ताने सुनने पड़ते हैं। 'कब मरेगी तू? जल्दी मर जा, यह कमरा हमें चाहिए,' कहते। सगे बेटे उसे इस तरह सताते रहते हैं। शरीर में प्राण हैं पर उसका मन तो बहुत पहले मर चुका था। सूनी आँखों से ताकती रहती है... निर्विकार! बस इससे आगे उस औरत के दुःख का बयान करना मेरे बस की बात नहीं...

तो फिर उस डाक्टर साहब की कहानी लिखूँ? कितना बड़ा बोर्ड टंगा है उसके अस्पताल के सामने! हंसते हंसते मरीजों का खून चूसता है। नाम के लिए सरकारी डाक्टर है, पर उसकी सारी दवाइयाँ अपने प्राइवेट क्लिनिक में चलकर पहुंच जाती हैं। शहर के सभी राजनीतिक मामलों में इनकी दखल है। वह कैंसर की तरह फैलता ही जा रहा है। उसके बारे में लिखना बिलकुल बेकार समय गंवाना होगा। ठीक है, सेठ बालस्वामी के बारे में सोचता हूँ। उसके बारे में अच्छी बातें क्या लिखूँ? कितनों के घर उजाड़ने के बाद उसकी इमारत खड़ी हुई है! और बहुत सारी ज़मीनें, मकान और दूकानें हैं उसके पास। किसी को एक पाई दान में नहीं देता पर रोज़ मंदिर ज़रूर जाता है। उस वक्त एक शाल ओढ़कर जाता है जिस पर 'राम-राम' छपा होता है। बिनामी राशन की दुकानें तो तकरीबन पंद्रह हैं। एम एल ए की कृपादृष्टि इस पर सदा रहती है। क्यों न हो, हर महीने शुद्ध घी का डिब्बा और कई किलो काजू उनके घर पहुँचा जो देता है! इस कीचड़ से भरे गड्डे में पैर रखना मुझसे नहीं होगा।

बीच बाज़ार में नमस्कार करता एम एल ए का होर्डिंग खड़ा है। उसके बारे में लिखना चाहूँ... पर जबसे चुनाव जीते अब तक किसी ने उन्हें आँखों से नहीं देखा... बस तस्वीर ही देखने को मिलती है। वह कैसा है, कहाँ रहता है, कुछ भी नहीं जानते। फिर क्या लिखूँ?

अरे कोई सोच आगे बढ़ती ही नहीं, बीच में ही टूट जाती है। बाहर देखूँ या अंदर ऐसा लगता है कोई घाव कुरेदा जा रहा है। तो फिर क्या किया जाए? घर लौट जाऊँ...

तभी मेरे सामने कुछ दूरी पर एक आटो आकर रुकी। उसमें से गाँव का आदमी जैसे दिखने वाला डरते-डरते उतरा। फिर उसने दो बड़े थैले उतारे। एक थैले में से एक पपीता झांकता दिखाई दिया। शायद उन्हें यहां बेचने लाया है। देखने में बिलकुल भोला और गंवार लग रहा था। थैले उतारकर वह इधर उधर कुछ ढूंढता सा देखने लगा। शायद फल बेचने के लिए बैठने की जगह ढूंढ रहा है। शहर के संश्लिष्ट परिस्थितियों से परिचित होने के कारण मुझे लगा, चलो हमें यहां कहानी के लिए कुछ सामग्री मिलने वाली है।

नेताजी रोड पर भीड़ इतनी थी कि चलना ही मुश्किल लग रहा था। सड़क के दोनों ओर सब्जियों की, फलों और फूलों की दुकानें थीं... बिलकुल एक दूसरे से सटी। सड़क पर बेतरतीब रोकी गई गाड़ियां, स्कूटर, ट्रके, सब कुछ अस्त-व्यस्त था। बहती नाली में से नगर निगम के कर्मचारियों ने गंदगी निकाली और वहीं दुकानों के बीच ढेर लगाकर चले गए। उस पर मक्खियां भिनभिना रही थीं। बदबू से लोग बेहाल थे। उस सड़क पर कई डाक्टरों के क्लिनिक और इंटर नेट के सेंटर भी थे। इसलिए आने जाने वालों की भीड़ बहुत ज्यादा थी। सड़क नहीं चींटियों की बांवी लग रही थी। जैसे किसी ने घाव को खुला छोड़ दिया हो!

वह आदमी आँखें फाड़कर ज़रा सी जगह खोजने लगा। पर शहर में जगह मिलना क्या इतना आसान है? न जाने कितने लोगों से झगड़ा करना पड़ता है! कितनों की खरी खोटी सुननी पड़ती है और अपमान सहना पड़ता है! चालाकी दिखानी पड़ती है! यह सब यह भोला भाला गंवार क्या जाने?

वह डरते-डरते सुपर बाजार के सामने वाले पेड़ के पास रुका। वहां दो औरतों के बीच घमासान छिड़ गया था।

“अरी, कमीनी... अपनी जगह में से ज़रा सी जगह दे दी तो अब मेरे सिर पर बैठने लगी तू?” दोनों में बड़ी औरत चिल्लाई।

छोटी भी पीछे क्यों हटती? ऊंची आवाज में बोली, “ऐ क्या बोलती है तू? देख रही हूं इसे अपनी जगह कहती जा रही है, क्या यह तेरे बाप की है या मरद की है?

या तेरे यार की है? चुप कर!”

“तू क्या जाने बाज़ारी लौंडी? कल परसों की छोकरी है तू। कितनी मुश्किल से यह जगह हासिल की मैंने?”

“हां हां बड़ी आई मुझ पर मेहरबानी करने वाली! हट... मुझे बैठने दे...”

“मैं नहीं हटती... क्या कर लेगी तू?”

दोनों गुत्थमगुत्था होने लगीं। सेठ अब तक तमाशा देखता बैठा था। मामला हाथापाई तक पहुँच गया तो वह बाहर आया और दोनों को वहां से भगाने की धमकी दी। तब जाकर कहीं दोनों चुप हो गईं। यहां का हर सेठ और दुकान का मालिक अपने सामने की दुकान की जगह पर अपना ही हक समझता है। पर यह सब देखने के बाद उस गांव का आदमी समझ गया कि शहर में जगह का मतलब क्या होता है।

उस आदमी के मन में कुछ खलबली सी मची। वहां रुकने का मन नहीं हुआ तो आगे चल पड़ा। कुछ दूर चलने के बाद एक नीम के पेड़ तले थोड़ी सी खाली जगह दिखी। वहां पहुँचकर उसने नीचे एक चटाई बिछाई और उस पर पपीते रखने लगा। पपीते ताजे थे और पीले लाल और हरे रंग की मिली जुली चमक उन पर दिखाई दे रही थी। ऐसा लग रहा था जैसे रंग बिरंगे कपड़े पहने बच्चे खेलने इकट्ठे हो गए हों।

उसने फल सजाए ही थे के इतने में आंधी की तरह आ गया सेठ। महीन बनियान में से उसकी हिलती तोंद दिखाई दे रही थी।

“अरे, कौन है बे तू? बेवकूफ कहीं का, तुझे मेरी दुकान के आगे ही जगह मिली फल बेचने को? निकल यहां से...” वह चिल्लाने लगा।

“अरे साब, तुम्हारा भला हो साब! थोड़े से तो फल हैं, जल्दी बिक जाएंगे। तुम्हारे पैर पड़ता हूं... लो तुम ये फल ले जाओ साब!” सेठ को तीन चार फल देते हुए आदमी गिड़गिड़ाया।

पर सेठ कहां सुनने वाला था? बस गालियां बकने लगा। उसका रक्तचाप बढ़ गया और हांफने लगा। उसकी बेटी ने गोलियां लाकर दीं, उन्हें निगलकर फिर अनाप-शनाप बकना शुरू कर दिया।

शायद गालियां सुनकर आदमी को बुरा लगा। बोला, “क्या है जी? यह सड़क सबकी है। तुम्हारी कैसे हो गई? फिर यहां नाला भी बह रहा है। नाले के पार तुम्हारी दुकान है। मैं तुम्हारी दुकान के आगे तो नहीं बैठा?”

“क्यों बे बदमाश! बड़ चढ़कर बोलने लगा है?” सेठ पागलों जैसा चिल्लाया और फलों को ठोकर मारने लगा। सेठ के बच्चों ने भी आकर इस काम में उसकी मदद की। फल बिखर गए। कुछ दबकर खराब हो गए, कुछ सड़क पर लुढ़क गए। आदमी ने बीच में आकर रोकने की कोशिश की तो उसे धक्का दिया गया। वह जाकर आटो के ऊपर गिर गया। कोहनी छिल गई और खून बहने लगा। सेठ के नौकर अपने मालिक के बचाव के लिए आ गए। राह चलते लोग तमाशा देखने लगे।

आखिर वह अपनी मजबूरी शायद समझ गया था, धीरे-धीरे फल थैले में रखने लगा। सारे फल समेट लेने के बाद अपना मुंह लेकर आटो में बैठ गया। उसकी तरफदारी के लिए कोई आगे नहीं आया। सबको अपनी अपनी पड़ी थी। हमदर्दी जता नहीं सके। यह दुनिया कितनी बड़ी है? फिर भी ज़रा सी जगह पाने के लिए कितने बड़े युद्ध करने पड़ जाते हैं! यह बड़े दुःख की बात है।

वह आदमी फिर से जगह की तलाश में निकल पड़ा।

आटो सड़क पर कुछ दूर आगे बढ़ी। तभी आगे से किसी पार्टी के कार्यकर्ता नारे लगाते आते दिखाई दिए। कोई नेता उस सड़क से गुजरने वाला था। ये नेता भी कुछ करते तो नहीं, पर प्रचार बहुत करवाते हैं। चौराहे पर एक बड़ा मंच खड़ा किया गया था। लाउड स्पीकर, कट आउट, लगाए गए, गानों का शोर सुनाई देने लगा...बड़ी गहमागहमी थी।

वह इन सब बातों पर ध्यान न देते हुए आटो से उतरा और एक ओर चल पड़ा। अचानक उसकी नज़र एक बेहतरीन जगह पर टिक गई। वह इतनी साफ और सपाट जगह थी कि उसके मन में लड्डू फूटने लगे। उस जगह के ठीक सामने दवाखाना था, बगल में डाकघर, पुस्तकालय और विद्यालय थे। नगर निगम का दफ्तर भी पास ही था। उसने सोचा, यहां तो मिनटों में सारे फल बिक जाएंगे! बस चटाई बिछाकर फल सजाने लगा। पसीना पोंछते हुए इधर उधर नज़र दौड़ाई।

अगले पल एक औरत तूफान की तरह आ धमकी। “क्यों भैया कहाँ से आ रहे हो? यहां क्या कर रहे हो?” दोनों हाथ कमर पर रखकर उसने पूछा। वहीं पास में सब्जी बेच रही थी वह। नाटा कद, मोटा बदन, माथे पर बड़ी सी बिंदी लगाए बड़ी तेज तर्रार औरत लग रही थी।

“बस थोड़े से फल लाया हूँ। एक घंटे में बेच बाचकर चला जाऊँगा, बहन!” आदमी ने कहा।

“अरे तू फल बेच या और कुछ, यहां नहीं बैठ सकते। हमारा नुकसान होगा। गाहक हमसे खरीदने नहीं आएंगे। निकाल अपनी दुकान यहाँ से!”

आदमी की समझ में यह नहीं आया कि उसके फल बेचने से सब्जी बेचने वाली उस औरत का नुकसान कैसे होगा। शहर के नखरे वह बेचारा नहीं जानता था।

“बहन, बाल बच्चों वाला आदमी हूँ। रहम करो। बस अभी चला जाऊँगा।” यह कहते वक्त उसका चेहरा और थोड़ा उतर गया। रोने का मन हुआ। लगा पहाड़ से नीचे लुढ़कता जा रहा है।

“ना भैया, इधर नहीं लगा सकते तुम। यह जगह किसी दूसरे की है। हमने इस जगह को हज़ारों रुपये देकर खरीदा है। हर कोई यहां अड़्डा जमाएगा तो हमारा कितना नुकसान होगा, सोचो?” औरत ज़रा नमी से बोली पर उसे वहां से हटाने को ठान ही लिया था उसने।

“बस अभी चला जाऊँगा...”

“ना, फौरन जगह खाली कर दो।”

“थोड़े से फल ले लेना, यह लो।”

“ना भैया। घर में लड़की पेट से है,” उसने कहा

अब गांव के आदमी को गुस्सा आ गया, पर कुछ भी नहीं कर सका। उसे उठना ही पड़ा।

वह नहीं जानता था कि उस औरत ने भी उस जगह को हथियाने के लिए इसी तरह के अपमान सहे थे। फिर जगह की तलाश शुरू कर दी उसने।

कभी यह शहर भी एक छोटा गाँव ही था। सड़कों पर इतनी भीड़ नहीं रहती थी। धीरे-धीरे शहरीकरण हुआ और गाँव बीमार इनसान की तरह फूलता गया। साथ ही बाहर के लोग यहां आकर बसने लगे। गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक जैसे आसपास के राज्यों से व्यापार करने सेठ साहूकार

यहाँ आकर दुकानें बिठाने लगे। धीरे-धीरे उनका व्यापार फलने फूलने लग गया और वे करोड़पति बन गए। नतीजा यह हुआ कि वे मालिक बन बैठे और स्थानीय निवासी उनके यहां गुमारते, नौकर और कुली बनकर रह गए।

ये सेठ साहूकार जो अन्याय करते थे उनकी कोई सीमा नहीं थी। सब नियमों को ताक पर रखने के लिए ऊंची इमारतें बनवाते। सड़क पर ही अपनी गाड़ियां खड़ी करते। आधी सड़क उनकी अपनी हो जाती है। अपनी दुकान के सामने किसी को बैठने नहीं देते, अगर किसी को जगह भी देते तो उसके लिए मोटी रकम वसूलते या उनसे लेन देन का धंधा शुरू करते। कोई बड़े भोलेपन से कहता, “मैंने सेठ से पचास हजार रुपये उधार लेकर यह जगह खरीदी है, यहां से नहीं हिलूंगा।” सेठ के दांव पेंचों में फंसकर छोटे लोग चींटियों की तरह कुचले जाते। ऊपर से आये दिन ‘सेज’ की वजह से भीड़ और भी बढ़ गई।

सड़क यतीम जैसी दिखती है। दिन में हरे घाव जैसी और रात को वेश्या जैसी थकी-थकी लगती है।

गर्मी के दिनों में लोग छाया के लिए तरसकर झुलस जाते। कहीं पब्लिक टायलेट नहीं होते। औरतों के लिए तो जैसे नरक दिखाई देता है।

जगह के लिए उसकी खोज में वह गेंद जैसा इधर से उधर ठोकरें खाता रह गया। ‘बर्मा बाजार’ गया तो कोई हिंदी में गाली देकर भगाने लगा। किसी क्लिनिक के सामने दुकान लगाना चाहा तो डाक्टर ने डांट पिलाई। लेडिस कार्नर के पास भी उसे बैठने नहीं दिया।

कितनी मुश्किल से एव-एक पाई कमाकर फल खरीदे थे, कितनी मुश्किल से यहां तक लाया था, क्या-क्या आशाएँ लेकर यहां आया था... सारी आशाएँ पपीतों की तरह टूट फूट गए! अहमक की तरह आकर इस बेरहम शहर में फंस गया। न आगे जा सकता है न पीछे।

‘मिल गई... जगह मिल गई...’ वह मन ही मन खुश होते हुए उछल पड़ा। जगह जरूर खाली था। रेलवे लाइन के पास, गंदी नाली के किनारे खाली जगह दिखाई दी। बगल में एक कूड़े का बड़ा सा ढेर भी था। किसी तरह थोड़ी सी जगह साफ करके दुकान लगाना चाहा।

उसने चारों ओर नज़र दौड़ाई। यह आखिरी मौका था,

इसीलिए डर रहा था। पटरियों के उस पार छोटी मोटी दुकानें जरूर थीं, न जाने क्यों इस तरफ कोई नहीं आया। शायद गंदी नाली और कूड़े के ढेर के कारण नहीं आए होंगे। उसने सोचा, कुछ भी हो जगह तो मिल ही गई। भूखे को कूड़ादान में जैसे पूड़ियां मिल गईं! पास ही रेडीवाले मियां से बात की और अपनी दुकान लगाने के लिए उसे राज़ी कर लिया।

उस जगह पर फैले कूड़े को झाड़ू से बुहार दिया। गंदी नाली बदबू छोड़ रही थी। एक चूहा बिल से बाहर निकला और नये आदमी को जांच परखकर अंदर लौट गया। पीपल के पेड़ पर बैठे एक लंगड़े कौव्वे ने कांव कांव चिल्लाते हुए उसका स्वागत किया।

जगह ढूँढ़ने के लिए चलते-चलते उसके पैर पत्थर जैसे भारी हो गए। कपड़े पसीने से भींगकर सूख भी गए। अब तक जगह ढूँढ़ने की चिंता में उसे भूख भी नहीं लगी थी। अब एकदम भूख आग की तरह पेट को जलाने लग गई। शायद भूख और गुस्से का अटूट साथ होता है। वह गुस्से से उबल रहा था। किसी को पकड़कर खूब पीटने का मन हुआ। ये कमबख्त सड़क को पूरी तरह हथियाकर गरीबों के लिए ज़रा सी जगह भी नहीं छोड़ते! एक-एक को छुरी भोंकने की इच्छा हुई उसे। सिर के ऊपर धूप की तरह दुनिया में फैला अन्याय उसके हृदय को जलाने लगा।

बगल वाले मियां ने एहसान करके जगह दे दी तो उसके बदले में चार पांच अच्छे फल लेकर अपनी रेडी पर रख लिये। उन फलों की ओर जब भी नज़र जाती, गांव के इस आदमी के मन में हूक-सी उठती। इतने में एक पुलिसवाला लाठी घुमाते आया और रोब दिखाकर कुछ फल ले गया। और थोड़ी देर बाद रेलवे फाटक की निगरानी करने वाला गेट कीपर आया और बोला कि यह जगह रेलवे की है, स्टेशन मास्टर देखेगा तो केस कर देगा। इस तरह डरा धमकाकर उसने भी चार फल ले लिए। कुछ सेठ की ठोकरी की वजह से दब गए और कुछ इस तरह हेकड़ी दिखाकर छीन लिए गए। तो अब उसके पास सिर्फ आधे रह गए।

उसने दोबारा चारों ओर देखा। सिर्फ वही सहमा सा

बैठा था। बाकी सब अपना सामान बेचने में व्यस्त दिखे। उनकी खूब बिक्री हो रही थी... समोसे, पकोड़े बेचनेवालों के सामने तो भीड़ जमी थी। दूसरी ओर एक संपेरा साँप नचा रहा था, और लोगों से हाथ फैलाकर पैसे मांग रहा था। एक आदमी चूहे और काक्रोच मारने की दवा बेचते हुए चिल्ला-चिल्लाकर लोगों को बुला रहा था।

इस संसार में अपना उल्लू सीधा करने के लिए बात करने का ढंग और शऊर आना चाहिए। किसी अनाम गांव का यह आदमी बातों में उलझाना क्या जाने? बेचारा भोला और सीधा था।

इक्का-दुक्का गाहक आता है भी तो दस रुपये की चीज़ को दो रुपये में खरीदना चाहता है। शहर के चालाक लोगों से कैसे निपटना है, यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। बिक्री भी नहीं हो रही थी और ऊपर से भूख और जलती धूप असहनीय होती जा रही थी। उसे लगा वह किसी ज्वालामुखी के ऊपर बैठा है। ठीक ऐसे समय एक आदमी वहां आया। वह नगर निगम का कर्मचारी था। अंतिम दृश्य में नकाब हटाकर अपना असली चेहरा दिखाने वाले खलनायक जैसा था वह। दो बार रिश्वत लेते पकड़े जाने पर सस्पेंड हुआ और रिश्वत देकर फिर नौकरी पाली। उसी पुरानी आदत के सहारे ज़िन्दगी गुज़ार रहा था। पान खाते रहने से दांतों का रंग कथई हो गया था। जब देखो दांत निपोरते हुए पैसा वसूल करने की ताक में रहता था। गोश्त की दूकान के मांस से लेकर फिल्मी टिकट तक उसे सब कुछ मुफ्त में मिल जाता था। पीछे कोई गाली देता तो भी कान नहीं देता। ऐसा बेशर्म था।

वह हमारे पपीतेवाले के पास पहुंचा और गरज उठा, “कौन है बे तू?”

“सलाम साब! बड़ी दूर से आया साब!”

“वह तो ठीक है, यहां किससे पूछकर फल बेचने बैठा है?”

इस बार गाँव के आदमी का पारा चढ़ गया। बोला, “इस कूड़े के ढेर के पास, गंदी नाली के किनारे, थोड़े से फल बेचने के लिए किससे पूछना है भाई? क्या कलक्टर साब से पूछना पड़ेगा?” उसने कुछ कड़े स्वर में पूछा।

“ऐ आवाज़ नीची कर... यह नगर निगम की जगह है।

क्या तेरे पास पर्मिशन है?”

“कितनों से पूछूं भाई? जिसे देखो, ‘मेरी जगह’ की रट लगाए है!”

अबे सुव्वर की औलाद... यह किसी की भी जगह नहीं, सरकार की है। हमारे कमिश्नर गुस्सा करेंगे... निकल... चल यहां से...”

तब तक वह आदमी पूरी तरह थक चुका था। पर गुस्सा नहीं उतरा। बोला “तो कहां जाऊँ? नाले में डूब मरूँ? या फांसी पर लटक जाऊँ?”

“क्या बे नखरा करता है तू? बिना पर्मिशन के फल बेचता है और ऊपर से उलटे सवाल करता है? ज़बान काट दूँगा हरामखोर!”

“गाली क्यों देते हो? यह बताओ अब मैं क्या करूँ?”

इतने में पास खड़ा मुसलमान आकर उस आदमी के कान में कहा, “बस, उसे भी कुछ दे देना, चला जाएगा।”

पर अब बचा क्या है? सारा मांस सूख गया और सिर्फ अस्थिपंजर रह गया। अब वह गुस्से से पागल हो गया। बात यहां तक बढ़ गई कि वह ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने लग गया, “क्यों किसी और जीने का अधिकार नहीं है? सिर्फ तुम लोग ही जी सकते हो? किस किसको खुश करना पड़ेगा? बित्ते भर जगह के लिए इतना बड़ा झमेला? पुलिस को, रेलवे वाले को, इसको, उसको, हर माई के लाल को...? हर किसी ऐरे गैरे का हाथ गरम करना पड़ता है? क्या हम इनसान नहीं? हमें जीना नहीं है? लो... ये बचे खुचे फल भी तुम सब ले लो। तुम जियो... त्योहार मनाओ... खुशियां मनाओ... धत तेरे की!” कहते हुए उसने सारे फल सड़क पर उड़ेल दिये और खंखारकर थूक दिया। फिर खाली थैला लेकर चौराहे की ओर चल दिया।

एक पल को लगा हवा रुक गई। बिल से चूहा फिर बाहर निकला और घबराकर फौरन अंदर चला गया। लंगड़ा कौव्वा भी कांव-कांव करता उड़ गया। वहां इकट्ठे हुए लोग तरह-तरह की टिप्पणियां करने लगे।

मैं कहानी की तलाश में निकला था। सोचा कहानी मिल भी गई। पर अब व्यथा की गठरी बांधकर ले जा रहा हूँ। मेरा मन कांटे में फंसी मछली की तरह छटपटाने लगा।

बन् बाठ बे बत्त के बीच का साहित्यिक दस्तक सिद्धेश

इस अवधि में कलकत्ते का साहित्यिक माहौल हलचल से भरा था। स्थानीय रचनाकारों के साथ बाहर से आये हुए (परिदों की तरह) चर्चित और ऊर्जा से भरे रचनाकार भी थे। पारसनाथ सिंह, रमेशचंद्र सिंह, चन्द्रबली सिंह, विष्णुचंद्र शर्मा, रामनारायण शुक्ल, विजय बहादुर सिंह, दूधनाथ सिंह, राजकमल चौधरी, रमेश बक्षी, हरीश भदानी, शरद देवड़ा, पृथ्वीनाथ शास्त्री, शलभ श्रीराम सिंह, श्री हर्ष। इन्होंने कलकत्ता में रहकर अपना स्थान बनाया।

एक नये कहानीकार प्रियदर्शी प्रकाश 'गल्प भारती' का संपादन करते हुए काफी दिनों तक रहे। उन्होंने इस पत्रिका का 'अकहानी विशेषांक' निकाला था। जिसकी बाहर व्यापक चर्चा हुई थी। अकहानी आंदोलन चल पड़ा था। (इसकी विशद चर्चा बाद में कभी) उसी काल में 'अकेलों का शहर', 'इंतजार' जैसी कहानियाँ लिखी जा रही थीं।

शरद देवड़ा 'ज्ञानोदय' से निकलकर 'अणिमा' मासिक निकाल रहे थे। कलकत्ते के कथाकारों का विशेषांक निकाला।

कथाकार छेदीलाल गुप्त 'रूप लेखा' मासिक से जुड़े थे। काफी दिनों तक संपादन किया। उसी समय यहाँ से 'सुप्रभात', 'परंपरा', 'समवेत' जैसी श्रेष्ठ पत्रिकाएँ भी निकलीं जिसकी चर्चा व्यापक स्तर पर थीं। ढेरों लघु पत्रिकाएँ निकल रही थीं। जिनके तेवर अलग-अलग थे।

पृथ्वीनाथ शास्त्री- 'सुप्रभात' साहित्यिक पत्रिका के संपादक और सुलझे हुए व्यक्तित्व के धनी व्यावहारिक व चिंतक भी थे। उनसे पहली मुलाकात मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट के कार्यालय में हुई थी। मैं तब कलकत्ते में नया-नया आया था। और इस पत्रिका का लेखक होने के नाते उनसे मिलकर प्रभावित हुआ था। तब तक वे मेरी कहानी और कविताएँ छाप चुके थे। देश भर के विख्यात लेखक उसमें लिख रहे थे। सर्वश्री राजेन्द्र यादव, मन्नु भंडारी, रमेश बक्षी, कमलेश्वर, मेहरूनिंसा परवेज, कमल जोशी सभी छा रहे थे। वैचारिक आलेखों के साथ-साथ, चित्रकला, सांस्कृतिक परिचर्चा एवं आलोचनाएँ भी होतीं। इन्द्रनाथ दुग्गड़ की चित्रकला पर एक बार रेखांकन के साथ विशद चर्चा भी हुई थी। जिसका असर देश के विभिन्न स्तर के पाठकों पर पड़ा था।

मैं निरंतर उनके संपर्क में था, अतः जब कई सालों तक प्रकाशित होने के बाद पत्रिका बंद हो गयी तब भी वे मुझे 'बांग्ला-हिंदी कोश' की योजना से जोड़ लिया। इसके लिए मुझे उनके फ्लैट (रसा रोड पर) जाना पड़ता था। सुबह दस से शाम चार-पाँच तक उनके निवास पर कोश की तैयारी में लगा रहता था। उन दिनों मैं विश्वविद्यालय से हिंदी की स्नातकोत्तर डिग्री पाने के बाद भी बेकार था। अनुवाद तथा कथा लेखन के अलावा यही काम था जो शास्त्री जी जैसे संपादक के साहचर्य में बहुत कुछ सीखा। इसी सिलसिले में राजकमल चौधरी के कलकत्ते से चले जाने के बाद उनके द्वारा संपादित पत्रिका 'रागरंग' का दायित्व इन पर आ पड़ा। यह बि.बा.दी. बाग के स्वैलो लेन से निकलती थी। मैं पृथ्वीनाथ शास्त्री जी के साथ संपादन कार्य से भी जुड़ गया। बांग्ला और अंगरेजी से अनुवाद किया।

राजकमल चौधरी- इनसे प्रायः मुलाकात हो जाती थी। कभी चौरंगी के फुटपाथ पर फिर कॉलेज स्ट्रीट के कॉफी हाउस (अल्बर्ट) में। इन्होंने बांग्ला के प्रख्यात उपन्यासकार शंकर के उपन्यास 'चौरंगी' का हिंदी अनुवाद किया। यह काफी चर्चित रहा। ये विभिन्न पत्रिकाओं में कहानियाँ लिख रहे थे। कविताएँ भी लिखीं।

एक बार कॉफी हाउस में हम दोनों कॉफी पी रहे थे, उसी वक्त उन्होंने कहा था, 'यार' मेरी इच्छा है कि 'कल्पना' में मेरी कोई कहानी छपे। 'कल्पना' उस वक्त की काफी महत्वपूर्ण पत्रिका मानी जाती थी। उसमें गिरीश अस्थाना, शानी, भारती छप रहे थे। श्री बद्री विशाल पित्ती संपादक थे। मैंने उन्हें हताश देखकर कहा था, जरूर छपेगी, भेजकर तो देखिए।'।

वही हुआ। उनकी कई कहानियाँ उसमें ससम्मान छपीं। उन्होंने मुझसे कहा, 'तुम छपना चाहो तो कहो, पत्र लिख दूँगा।' मैंने मना कर दिया।

उन्हीं दिनों उनके संपादन में एक पत्रिका सज-धज कर निकली। बी.बा.दी बाग के स्वैलो लेन से निकलने वाली इस पत्रिका ने कुछेक अंकों से ही धूम मचा दी थी।

एक बार अपनी लंबी कहानी 'चमगुदड़ी' लेकर उनके कार्यालय में गया था। वे इत्तफाक से मिल गये। अन्यथा वे कब, कहाँ रहते हैं, किसी को नहीं पता रहता। यह कहानी सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कहानी 'कुल्ली भाट' (पिकारेस्क टाइप) से अनुप्राणित होकर लिखी थी। उनको कहानी देते हुए मेरे मुंह से निकल गया, 'आपसे मिलकर मुझे प्रेरणा मिलती है। उन्होंने दुष्ट नजरों से ताकते हुए कहा था, 'प्रेरणा तो आँखों से मिलती है!'

मैं झेंप गया। चला आया। वे जब तक कलकत्ता में रहे, बदनाम रहे।

मेरी वह कहानी लंबी होने के बावजूद एक ही अंक में पूरी छपी। वे पटना लौट गये। बीमार रहे। वहीं 'मुक्ति प्रसंग' लिखा। 'चौरंगी' के हिंदी में अनुवाद के लिए अब भी लोग उन्हें याद करते हैं।

रमेश बक्षी- कहानीकार तो थे ही। कलकत्ता 'ज्ञानोदय' के संपादक बनकर आये थे। ज्ञानोदय कार्यालय बी.बा.दी बाग से उठकर न्यू अलीपुर में संस्थापक के निवास पर आ

गया था। मैं कभी-कभी जाता तो वे संपादन कार्य में व्यस्त रहते। थोड़ी देर रुककर चला आता। उन दिनों साहित्यिक पत्रिकाओं में ज्ञानोदय की बड़ी धूम थी। नये से नये रचनाकार के साथ प्रतिष्ठित लेखक भी छपते।

मुझे याद है, स्थानीय रचनाकारों में एकदम नयी कहानीकार सुधा अरोड़ा की पहली कहानी 'ज्ञानोदय' में छपी थी। और उसी एक रचना से सुधा स्थानीय साहित्यिक बिरादरी में शामिल हो गयीं। आज जिस मुकाम पर पहुँची हैं, वह उसी उत्साह और ऊर्जा का परिणाम है। वह दौर नई कहानी का था। लोग नये विचार, कथ्य और शिल्प-भाषा को अपना रहे थे।

रमेश बक्षी इसी विचारधारा को लेकर चल रहे थे। ज्ञानोदय में इस तरह की नयी कहानी निरंतर छप रही थी। उनकी अपनी कहानी 'पिता-दर-पिता' की व्यापक चर्चा हुई थी। मेरी नये शिल्प में ढली दो कहानियाँ 'शक' और 'मनी प्लांट' उन्होंने छपी थी। इस तरह उनसे मेरी गहरी दोस्ती हो गयी। वे चाहते थे कि मैं उनके दल में शामिल हो जाऊँ। यही कारण है कि दिल्ली चले जाने के बाद भी उन्होंने मुझसे संपर्क रखा। वहाँ से उन्होंने 'ईकाई' पत्रिका निकाली थी। जिसमें मेरे नये और प्रथम कथा-संग्रह 'अनाम' की समीक्षा छपी और मुझे 'हिंदी में ओ. हेनरी' खिताब से नवाजा। यह मेरे लिए अप्रत्याशित घटना थी।

सन् साठ-बासठ या चौंसठ की घटना है। मैंने अतिरिक्त उत्साह में आकर विवेकानंद रोड के इलाके में एक प्रेस खोला था। यहाँ केवल कम्पोजिंग सेक्शन था। स्थानीय कुछेक रचनाकार दोस्तों की लघु पत्रिकाएँ वहीं छपने लगी। सर्वश्री राही शंकर की 'फैक्ट्स' अनय की 'विध्वंस' पत्रिकाएँ वहीं से छपती थीं। कुछ दिनों के बाद मैंने अपना संग्रह 'मेरी दो लंबी कहानियाँ और पारो', 'अनुपस्थित शहर' अपने प्रेस से निकाला। मात्र कम्पोजिंग की वहाँ सुविधा थी। ट्रेडिल मशीन पर छपता कहीं और था। अतिरिक्त समय में अपने कुछ मित्रों के साथ मिलकर एक पत्रिका 'समवेत' त्रैमासिक की नींव रखी। मेरे साथ संपादन में कथाकार अनय और आलोचक अलख नारायण थे। पत्रिका चल निकली थी और सर्वभारतीय स्तर पर लेखकों ने खूब सराहा था। यहाँ तक कि इसे अंगरेजी पत्रिका 'इनकाउन्टर'

के समकक्ष माना था।

उस समय रमेश बक्षी दिल्ली अपने निवास पर थे। कभी-कभी कलकत्ता आते थे तो 'इंडियन कॉफी हाउस' में जरूर आते थे। एक बार इसी कॉफी हाउस में शाम को मुलाकात हुई। पास वाली सीट पर एक खूबसूरत महिला बैठी थीं। उन्होंने परिचय कराया। यह अचला शर्मा हैं। बांग्ला भी जानती हैं। रहती दिल्ली में हैं। ये बांग्ला से कुछ किताबें खरीदने आई हैं। इनकी तुम हो सके तो मदद करो। बाद में अचला जी से मेरी भी मित्रता हो गयी। जब भी कलकत्ता आती, मुझे मिलतीं।

रमेश बक्षी ने अपने निवास के टेरेस पर लघु पत्रिकाओं की प्रदर्शनी लगाई थी। सेमिनार भी रखा था। विषय था- 'लघु पत्रिका बनाम व्यावसायिक पत्रिका'। मुझे आमंत्रित किया था और 'समवेत' पत्रिका को प्रदर्शनी में शामिल किया था। दूसरी सुबह विषय पर मुझे भी बोलना था।

मेरे समक्ष कमलेश्वर, मोहन राकेश, नामवर सिंह भी थे। मैंने जो कहा उस पर सबकी सहमति मिली। दिल्ली के अन्यान्य साहित्यकार तो थे ही। सबका नाम लेना संभव नहीं है। इस गोष्ठी की विशद चर्चा हुई थी। दूसरे दिन ही संभवतः ढूँढते हुए अचला के घर पर गया था। मैं जब भी रमेश जी को पत्र लिखता, अचला जी के बारे में जरूर पूछता। बहुत दिनों बाद रमेश बक्षी ने मुझे लिखा था-

'तुम्हारे पत्र मिले। बेहद व्यस्त रहने से उत्तर नहीं दे सका।

एक सूचना: अपने-अपने निजी कारणों से अचला और मैं अलग हो गये हैं। अतः उसके बारे में मुझे अब मत लिखना। तुम कैसे हो ?

सस्नेह, रमेश बक्षी

19.07.1974

प्रियदर्शी प्रकाश- एक ठिगना-सी काया मगर फूर्तीबाज और कलकत्ता के सारे साहित्यकारों के बीच लोकप्रिय। प्रत्येक आयोजन में शामिल होना। कॉफी हाउस से लेकर खलासी टोला तक अबाध विचरण। वह बहू बाजार के मोड़ पर 'गल्प भारती' कार्यालय में संपादक के पद पर बैठने वाला शख्स कलकत्ता में जब तक रहा, साहित्य में हड़कम्प मचाये हुए थे। सारे लोगों में अधिकतर उसके

कार्यालय में जमे रहते थे। गल्प भारती को खास ऊँचाइयों तक पहुँचाने में उसका बौद्धिक अवदान था। वह कहानियाँ भी लिखता था, अतः कथा-आंदोलन से जुड़कर और लोगों को जोड़कर सर्वप्रिय और स्तरीय मुकाम उसने हासिल किया था।

'गल्प भारती' का अकहानी विशेषांक निकालने में काफी मेहनत की थी। उसने एक इशतहार छापा था, जिसका शीर्षक था-

'सातवां दशक : अकहानी दशक' उसने दावा किया कि इस दशक की अधिकांश कहानियों में सूक्ष्मतः अब्सर्डिटी के प्रति एक शक्तिशाली ललक पाई जाने लगी है। जिसके कारण कथा-साहित्य के सम्पूर्ण 'फॉर्म' में एक विचित्र-सी तेजी आ गई है।

इस विशेषांक में ग्यारह अकहानियाँ, 60 के बाद कथा-प्रवृत्तियों पर धनंजय वर्मा, विजय मोहन सिंह के आलेख, अकहानी चिंतन में 15 लेखकों के विचार शामिल किये गये थे।

उसी काल में अमरीका के बीटनिक एलेन गिंसबर्ग के आने पर अधिकांश हिंदी और बांग्ला के साहित्यकार बोहेमियन आचरण करने लगे थे। प्रियदर्शी भी उस गिरोह में शामिल था। शाम को खलासी टोला और पीकर रास्ते पर बहकना इसमें खास शगल था। बांग्ला के कवि शक्ति चट्टोपाध्याय, कवि-कथाकार सुनील गांगुली, विद्रोही कवि कॉमरेड अमिताभ दाश गुप्ता सभी इस आदत के शिकार थे।

.....

कलकत्ता साहित्य-संस्कृति का पीठ स्थान माना जाता है। यहां हिंदी के जो लेखक रहे, बाहर जाकर भी अपनी पहचान खोने नहीं दी। डॉ. माहेश्वर, सुरेन्द्र तिवारी, प्रयाग शुक्ल ने कलकत्ता छोड़ दिया, लेकिन लेखन के क्षेत्र में निरंतर चर्चा में बने रहे। बहुत सारे लोग तो बिछुड़ गये और जीवित रहने वालों में विमल वर्मा, परशुराम अभी भी आलोचना में सक्रिय हैं। कवि नवल, ध्रुवदेव मिश्र पाषाण, आलोक शर्मा, कथाकार कपिल आर्य, बिमलेश्वर साठ-सत्तर के बीच के ऊर्जावान रचनाकार रहे आज भी उतना ही भरोसे के साथ उत्तराधिकार इन्हें मिला हुआ है।

संपर्क :

1/17, आदर्श पल्ली, पो.- रिजेन्ट एस्टेट, कोलकाता- 700092, मो. 09830859660

अमरीका के पूर्वी तट से...

डॉ. आभा गुप्ता ठाकुर

16 जून 2014 – मेरी स्मृतियों में हमेशा ताजे फूल की खुशबू की तरह महफूज रहेगा, सिर्फ इसलिए नहीं कि यह मेरी अमरीका यात्रा का पहला पड़ाव था बल्कि शायद इसलिए कि वीजा के कागजी तामझाम और मध्यमवर्गीय परिवार की विरासत से जुड़े आर्थिक प्रश्नों का निराकरण भी तयशुदा कार्यक्रम से पहले हो गया था। मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि के बावजूद हमारा पूरा परिवार ईमानदारी और मेहनत के साथ आगे बढ़ने में विश्वास रखता है, सपने देखना जीने के लिए बहुत जरूरी है, खासकर तब जब आपके चारों ओर भौतिक समृद्धि के जरखरीद गुलाम अपने-अपने निहित स्वार्थों की वजह से गोलबंद होकर सक्रिय हों। आज के इस जटिल सामाजिक ताने-बाने में खुद को विभ्रम का शिकार होने से बचाना है तो यात्रा करना अनिवार्य है। मेरे लिये यात्रा महज पर्यटन नहीं है, वह एक माध्यम है विराट से जुड़ने का, खुद को खोजने का और अपने समय के प्रश्नों पर विचार करने का। कोई भी यात्रा भ्रमण-सूची में स्थानों की फेहरिस्त जोड़कर समाप्त नहीं होती, वह तो यात्रा के विभिन्न पड़ावों पर इकट्ठे किए गए अनुभवों से अपने कोहबर को भरने की अनवरत प्रक्रिया है।

खैर 16 जून 2014 को वर्जिन एटलांटिक एयरलाइंस के हवाई जहाज में बैठकर हम लंदन के हिथ्रो एयरपोर्ट पर उतर गए। लंदन एयरपोर्ट हमारी उम्मीदों से कहीं अधिक साधारण निकला और कुछ घंटों के विश्राम के बाद हमने न्यूयार्क के जान.एफ. केनेडी एयरपोर्ट के लिए उड़ान भरी। रात्रि लगभग 11:30 बजे हम न्यूयार्क पहुँच गए। लगभग 16-17 घंटों की हवाई यात्रा की थकान हम सभी के चेहरों पर चस्पां थी पर उत्साह ने एक बार फिर बाजी मारी और हमने कभी न सोने वाले न्यूयार्क शहर की रंग-बिरंगी रोशनी के आलोक में ऊँची-ऊँची इमारतों के बीच व्यवस्थित, गाड़ियों के काफिले में बेखौफ घूमते मनुष्यों का दीदार किया, जिनके चेहरे उनकी बेफिक्री के गवाह थे। चारों ओर जहाँ देखा नियोजित कार्यक्रम के अनुसार यांत्रिक गति से चालित मशीन-मानवों का एक 'अभय लोक' दिखा, आधी रात बीतने के बाद हम थककर सो गए।

17 जून की सुबह हमने विश्व-प्रसिद्ध 'स्टेचू ऑफ लिबर्टी' को देखने का मन बनाया और न्यूयार्क तथा न्यूजर्सी शहर के पास समुद्र में स्थित इस मूर्ति को देखने के लिए फेरी ली। 'स्वतंत्रता की देवी' की भव्य प्रतिमा, आकर्षक एवं विशाल। मन देखकर अभिभूत हुआ और यह सोचकर बेहद अच्छा लगा कि हम स्वतंत्र भारत में साँस ले रहे हैं। एक बात बताना यहाँ जरूरी है कि अमरीका नियमों से चलने वाला देश है, मैंने वहाँ किसी को भी कतार तोड़ते,

थूकते, या लोफरैटी करते नहीं देखा। अच्छा लगा – यह देखकर कि महिलाओं के कम कपड़ों पर छींटाकशी करने वाले नहीं थे।

‘स्टेचू ऑफ लिबर्टी’ देखने के बाद हम वाशिंगटन शहर की ओर रवाना हो गए। वाशिंगटन डी०सी० अमरीका का महत्वपूर्ण शहर है क्योंकि न केवल यहाँ अमरीका की संसद है बल्कि यह शहर अमरीका के शक्ति केन्द्र, वहाँ के राष्ट्रपति का घर भी है। अगले तीन दिन हमने कैपिटल हिल, व्हाइट हाउस, लिंकन मोन्यूमेंट, वाशिंगटन मैमोरियल, एरोस्पेस म्यूजियम एवं नैचुरल हिस्ट्री म्यूजियम को देखा। वाशिंगटन डी.सी. में ऊँची इमारतें बनाने पर प्रतिबंध है, शहर साफ-सुथरा एवं बाकायदा चलने वाला है, और बेकायदा जीवन बसर करने वालों को यहाँ खासी परेशानी हो सकती है। एक वाक्या बताना जरूरी समझती हूँ। वाशिंगटन शहर घूमने के लिए हमने बस को चुना था। सभी परिवार बस में बैठ चुके थे, बस में चूँकि बच्चे भी थे अतः शरारत होना लाजिमी था, किसी बच्चे ने शायद बस में कोई तरल पदार्थ गिरा दिया था और वे बस के बीचों बीच धमाचौकड़ी में मशगूल थे। भारतीय परिवारों में बच्चों की बहुत सी बातों को ‘बचपन की शरारत’ कहकर अनदेखा कर दिया जाता है या फिर यह कहना ज्यादा सही होगा कि बच्चों को भारतीय समाज में ‘काफी छूट’ मिलती है पर हम अमरीका में थे और वहाँ गन्दगी फैलाना, शोर करना (चाहे फिर बच्चों का हो) एक गम्भीर मसला है, हमारे वाहन-चालक ने बस रोक दी और जब तक बस में फैली थोड़ी सी गंदगी पूरी तरह साफ नहीं हो गई – बस खड़ी रही। हम सभी को काफी अटपटा और बुरा लगा पर सभी ने इस बात को गाँठ में बाँध लिया कि यहाँ बेपरवाह होकर, मस्ती के नाम पर स्वतंत्रता का दुरुपयोग वर्जित है और इसके दायरे में बड़े ही नहीं बच्चे भी शामिल हैं।

वाशिंगटन में ही एक और दुर्घटना होते-होते बची। सभी बच्चे ‘Six Flags’ नामक ‘amusement park’ में इतना रम गए कि उन्हें खोजना कठिन हो गया। काफी ढूँढ़ने पर भी जब वे नहीं मिले तो मैंने पुलिस में रिपोर्ट करने का मन बनाया। आपको जानकर बेहद आश्चर्य होगा कि पुलिस ने 15 वर्षीय मेरी बड़ी बेटा की रिपोर्ट यह कहकर

लिखने से मना कर दिया कि 15 वर्ष की लड़की खुद को सँभाल सकती है और वह स्वयं आपको ढूँढ़ लेगी। उनके लिए इसमें परेशान होने की कोई बात न थी। इससे एक और बात मेरी समझ में आई कि अमरीका में बच्चे बहुत जल्द बड़े हो जाते हैं – खुदमुख्य और अपने फैसले स्वयं लेने वाले और ऐसी स्थिति के जो नतीजे होते हैं उनसे हम अनभिज्ञ नहीं हैं। बचपन और वयस्क होने के बीच का अंतराल अमरीकी समाज के लिए चिंता का विषय नहीं है जबकि मुझे ऐसा लगता है कि यह उनके प्रमुख सरोकारों में से एक होना चाहिए। संभवतः इसीलिए हमारी एक अमरीकी मित्र अपनी बेटा की वयःसंधि के समय उसे भारत में ही रखना चाहती हैं उन्हें विश्वास है कि वह यहाँ ज्यादा महफूज रहेगी। अमरीका जाने के बाद शायद पहली बार मुझे गर्व हुआ कि मैं एक भारतीय माँ हूँ जिसके लिए 15 वर्षीय बच्ची वयस्क नहीं हैं।

वाशिंगटन शहर की सबसे विलक्षण जगह है – नैचुरल हिस्ट्री म्यूजियम, जहाँ आप पूरा दिन बिता कर भी यहीं कहेंगे कि ‘दिल अभी नहीं भरा’। इस विशाल भवन में बेशकीमती आभूषण हैं, तितलियों का प्राकृतिक वातावरण में बना संरक्षित उद्यान है, बहुत सारे जानवरों के अवशेष हैं, मिश्र के संरक्षित लेपों में लिपटे इंसानी अवशेष हैं और भी बहुत कुछ है। इसी तरह एरोस्पेस म्यूजियम में आप मनुष्य की प्रगति का, उसके क्षितिज विस्तार का, उसके सपनों की उड़ान का इतिहास देख सकते हैं। इस तरह वाशिंगटन में तीन दिन बिताकर हमने आगे के सफर के लिए इस खूबसूरत शहर से विदा ली।

हमारा अगला पड़ाव था शननदोहा, स्टेट पार्क में स्थित ‘ल्यूरे कैवर्न’। यह अद्भुत मायालोक है, प्राकृतिक रसायनों के सालों साल रिसने से बने मिनरल डिपोजिट का अविस्मरणीय संग्रह। स्टैलेटाइट और स्टेलेमाइट के जमावड़े ने अनूठे कला-संसार को रचा है और इस प्राकृतिक शिल्प-संग्रह और चित्रकारी की दूसरी मिसाल ढूँढ़ना मुश्किल है। यह दुर्लभ दृश्य आपको प्रकृति की विराट शक्ति के सम्मुख नतमस्तक हो, उस विशाल से जोड़ देगा जिससे हम अनायास ही विलग होते जा रहें हैं। यहाँ स्वच्छ नीले पानी का एक प्राकृतिक कुण्ड भी है जहाँ मनोकामना पूर्ति

के लिए लोग पैसे डालते हैं। जिनको प्रति वर्ष दान कर दिया जाता है। जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि विश्वास एवं श्रद्धा का स्थल यह मनोकामना कुंड, अमरीका और भारत दोनों में बसे मनुष्य को विश्वास की कड़ी से जोड़ता है और मनुष्य के मनुष्य से सुदृढ़ रिश्ते पर मुहर लगाता है। 'ल्यूरे कैवर्न' की एक दिलचस्प बात यह है कि यहाँ किसी भी शिला पर, लोगों ने अपने प्यार का संदेश या चित्रकारी नहीं की है जो एक सभ्य राष्ट्र की पहचान है। हमारा गाइड खासा हँसमुख था और अपने कार्य को कुशलतापूर्वक निपटाने के बाद मजाक के लहजे में उसने कहा "अगर आपको मेरा मार्गदर्शन पसंद आया तो मेरा नाम डेविड है अगर नहीं तो मैं टॉम, डिक या हैरी कुछ भी हो सकता हूँ।" अमरीका में मजाक भी किया जाता है, चाहे वह शिष्टतापूर्वक ही हो - इसका इल्म हमें डेविड से मिलने के बाद हुआ।

अगले दिन हमें अप्लेशियन पर्वत श्रृंखला में स्थित 'कनान वेली स्टेट पार्क' जाना था जो मोनोगाहेला के जंगल और खूबसूरत वादियों से घिरा एक सुन्दर, नयनाभिराम आश्रय-स्थल है। हमारी टोली के बाकी सदस्यों की जंगलों में रुचि न होने के कारण, वे यहाँ हमारे परिवार के साथ नहीं आए थे और हम अमरीकी गर्मियों के मौसम के लंबे दिनों और छोटी रातों की वजह से गुनगुनी धूप और सुरमई शाम के नजारों में लगभग दुनिया के सभी झमेलों को भूल चुके थे। यहाँ हमने कॉटेज में रहना पसंद किया था और इस सफर में पहली बार हमारी कॉटेज में रसोई थी। शाकाहारी होने की वजह से अब तक पीज़ा और ब्रेड पर दिन काटते रहे, पर हम सभी रसोई की वजह से यहाँ बहुत सुकून महसूस कर रहे थे। हमने यहाँ खाना बनाया और अदरक वाली मसालेदार चाय का लुत्फ भी उठाया। यहाँ एक बात अच्छी तरह समझ में आई कि भारतीय व्यंजन हमारी कमजोरी नहीं हमारी ताकत है और अपने परिवार के लिए खाना पकाती भारतीय स्त्री कितनी अनमोल है, इसका अहसास बहुत तीव्रता से मेरे रेशे-रेशे में गुंथ गया, एक बार फिर मुझे भारतीय होने पर गर्व हुआ।

अमरीकी जंगलों, पानी के स्रोतों एवं पर्यावरण संरक्षण की जितनी भी तारीफ की जाए कम है। व्यवस्थित यातायात,

पेड़ों के इर्द गिर्द मल्ल का सुरक्षा-कवच, अपनी लकड़ी, जल एवं संसाधनों का संरक्षण हमें निश्चित तौर पर अमरीका से सीखना चाहिए। जहाँ एक आम अमरीकी लकड़ी नहीं काटता, पानी के स्रोतों में गंदगी नहीं फैलाता और जंगलों की हिफाजत करता है।

मोनोगाहेला के जंगल से ईरी लेक होते हुए हम नियाग्रा पहुँचे। पता चला कि पृथ्वी के ताजे पानी के स्रोतों में से लगभग 70 प्रतिशत अमरीका में है। 'नियाग्रा जल प्रपात' आपके भीतर नई ऊर्जा का संचार करता है। जितना सुंदर यह जल-प्रपात है उतना ही कायदे से इसका प्रबंधन किया गया है। अमरीकी जल प्रपात और कनाडा में स्थित जल-प्रपात दोनों मिलकर ताजे पानी के अथाह भंडार को समेटे बहते हैं और 'maid of the mist' नामक नौका पर सवार होकर आप नियाग्रा जल-प्रपात के ठीक नीचे तक जा सकते हैं। जल-प्रपात से गिरता पानी आपको जीवन के प्रति अनुराग से भर देता है और कुछ क्षण के लिए ही सही आप इस नश्वर संसार से मुक्त हो जाते हैं जैसे पानी की बौछारें नहीं 'अमृत वर्षा' में भीँगकर निर्वाण प्राप्त कर लिया हो। कालिदास शकुंतला के सौन्दर्य के विषय में कहते हैं कि उनके दर्शन से नेत्रों को निर्वाण प्राप्त हो जाता है। नियाग्रा भी कुछ-कुछ वैसा ही है - थोड़ा लौकिक थोड़ा अलौकिक। 'cave of the wind' में आप खुद को अमरीकी प्रपात के नीचे खड़ा पाते हैं और देखने वालों को लगता है जैसे शुक्राना की नमाज़ अदा हो रही हो।

नियाग्रा के इस दिव्य अनुभव के साक्षी सिर्फ हम ही नहीं थे, हमारे मित्र फिर हमारे साथ हो लिए थे। वहाँ से हम 'बोस्टन' रवाना हो गए। 'बोस्टन' हमारे लिए इसलिए महत्वपूर्ण था कि हमारे बच्चे हारवर्ड और एम.आई.टी. को देख पाएँ जो संसार के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में से एक हैं और जिनकी अपनी गौरवशाली परंपरा निश्चित तौर पर अनुकरणीय हैं। 'बोस्टन' में हम अपने सहयात्री परिवार के मित्र के घर पर ठहरे थे, उन्होंने न केवल गर्मजोशी से हमारा स्वागत किया बल्कि हमारे संकोच, हिचक-झिझक को अपने उन्मुक्त एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार से कुछ ही क्षणों में दूर कर दिया। देखकर हर्ष मिश्रित प्रसन्नता हुई कि उनकी बेटी कर्नाटक-संगीत एवं कथक नृत्य सीख रही थी एवं बेटा पियानो।

दक्षिण भारतीय इस परिवार ने अपनी जड़ों से खुद को जोड़कर रखा था और अमरीका में रहने के बावजूद भारतीय कलाओं के प्रति उनका प्रेम मेरे मन को छू गया।

एम.आई.टी. अपने नाम के अनुरूप ही लगा पर हारवर्ड ज्यादा जीवन से भरपूर एवं वैविध्यपूर्ण। हारवर्ड विश्वविद्यालय परिसर में 'हौप ऑन हौप ऑफ' बस चलती है। जिसमें चढ़ते-उतरते आप आसानी से पूरे परिसर को देख सकते हैं। बोस्टन के बाद हम पुनः न्यूजर्सी के लिए रवाना हो गए।

न्यूजर्सी में इतने ज्यादा भारतीय हैं कि लगा ही नहीं कि हम भारत से दूर हैं। नियाग्रा के बाद भारतीय खाना भी आसानी से मिलने लगा था और हम अमरीका में काफी सहज महसूस कर रहे थे। अगले दिन हम 'एंपायर स्टेट बिल्डिंग' गए और 86 मंज़िल के ऊपर बनी छत से हमने न्यूयार्क शहर का नजारा देखा, चारों ओर कंकरीट का जंगल और उनके बीच बनी सड़कों का जाल, मनुष्य के विकास का, उसकी प्रगति का दस्तावेज़ है। मुझे एंपायर स्टेट बिल्डिंग के फ्लोर पर लगी टाइलें बहुत पसंद आईं जो अनगिनत लोगों के चलने के बावजूद गंदी नहीं लगती। बच्चों को यहाँ बहुत अच्छा लगा।

सामान खरीदना हमारी यात्रा की प्राथमिकता नहीं था और इसी मौन समझौते के आधार पर हमारा कार्यक्रम बना था अतः खरीददारी को महज औपचारिक ढंग से कुछ घंटों में निपटा कर हमने वापसी की तैयारी शुरू कर दी और

29 जून 2014 को हम स्वदेश लौट आए।

वाशिंगटन के बाद पूरी यात्रा में हमारे साथ एक दोस्त एवं मार्गदर्शक की तरह रहा जमैकन मूल का अमरीकी नागरिक मैथ्यूज़ जिसने हमें एक पल के लिए भी उस अनजानी दुनिया में अकेला या अजनबी महसूस नहीं करने दिया। भाषा और संस्कृति के अलग होने के बावजूद एक अनजानी डोर ने हम सभी को जिस तरह बाँधा उसने मानवता में मेरे विश्वास को और दृढ़ता प्रदान की और अमरीकी समाज के बारे में कई भ्रांतियाँ समूल नष्ट हो गयीं। मन में यह धारणा अटल हो गयी कि मनुष्य सिर्फ मनुष्य होता है। अपने उस दोस्त को धन्यवाद कहना नाकाफ़ी होगा पर वह हमेशा हमारी स्मृतियों में कन्नौज के इत्र की तरह बसा रहेगा।

पुनश्च: एक खास बात जो आज भी मुझे विस्मित करती है वह है लगभग सभी होटलों में बाइबल की प्रति की मौजूदगी। अमरीका का नाम सुनते ही हमारे मस्तिष्क में उभरती है एक ऐसी तस्वीर जहाँ भौतिक प्रगति है, आणविक शक्ति की धमक है, वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हैं, बाजार को काबू में रखने वाली नीतियाँ हैं, लॉस वेगास की चकाचौंध है और दुनिया को मुठ्ठी में करने की जिद है – ऐसे अमरीका के होटलों में बाइबल की प्रति – निश्चित ही हमें सोचने पर मजबूर करती है कि हमने पश्चिम से क्या लिया और अपना क्या खो दिया।

संपर्क :

मो. 9450960955

ग़ज़ल मेरे व्यक्तित्व में है : कुँवर खेचैन

(प्रख्यात ग़ज़लकार कुँवर खेचैन से लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता की बातचीत)

‘हिंदी ग़ज़ल का क्या तात्पर्य है? हिंदी भाषा की ग़ज़लें ही हिंदी ग़ज़ल हैं या सिर्फ़ और सिर्फ़ देवनागरी लिपि में लिखी हुई ग़ज़लों को ही हिंदी ‘ग़ज़ल’ कहा जाये?

इन दोनों बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ‘लिपि’ अलग चीज़ है और ‘भाषा’ अलग चीज़ है। हाँ, कभी-कभी किसी भाषा की अलग लिपि बन जाती है, लेकिन दोनों अलग-अलग चीज़ें हैं। आप, आजकल रोमन लिपि में हिंदी लिखते हैं या नहीं...? मैसेज भेजते हैं ‘मैं जा रहा हूँ’ (Mai ja raha hu) लिख तो रहे हैं रोमन लिपि, लेकिन लिख रहे हैं हिंदी भाषा। आपने भाषा (Language) कौन-सी लिखी और लिपि कौन-सी लिखी? रोमन लिपि में आप हिंदी भाषा लिख रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि रोमन लिपि में लिखे जाने से वह अंग्रेजी भाषा तो नहीं हो गई। इसी तरह अंग्रेजी को हिंदी में लिखा ‘आई एम गोइंग’ (I am going) यहाँ लिपि देवनागरी हुई तो यहाँ भाषा अंग्रेजी हुई न कि हिंदी। माना कि अंग्रेजी की स्थापित लिपि रोमन और हिंदी की देवनागरी, लेकिन हम किसी भी भाषा को किसी भी लिपि में लिख सकते हैं। ऐसे में केवल इतना कहने से कि फ़ारसी लिपि में लिखे जाने से उर्दू हो गई और देवनागरी लिपि में लिखे जाने से हिंदी हो गई तो यह कॉन्सेप्ट (Concept) ग़लत है। जब आप हिंदी ग़ज़ल भाषा की बात कर रहे हैं तो आपका ध्यान देवनागरी लिपि पर है कि हिंदी भाषा पर, तो मेरा ख़्याल है कि आप हिंदी भाषा की बात कर रहे हैं, न कि लिपि की बात करना चाहते हैं। पहले तो अच्छी तरह से इस बात की एक (Demonstration) बना लेनी चाहिए कि आप देवनागरी, फ़ारसी, रोमन लिपि कह रहे हैं तो आपका संबंध लिपि से नहीं है, आपका संबंध सीधे भाषा से है। यदि भाषा से है तो क्या वो वाली हिंदी से है, जो पहले थी। अब जैसा कि आप साउथ (दक्षिण प्रांत) में चले जायें हैदराबाद में तो वहाँ की भाषा में वली दकनी बहुत बड़ा शायर है। सच में देखा जाये तो उसने स्थापित किया ग़ज़ल को वहाँ। इसी तरह अमीर खुसरो ने जब कहा तो उन्होंने ब्रजभाषा की एक लाईन कही और दूसरी लाईन फ़ारसी की कही। उस समय के लोगों ने जो ग़ज़लें हिंदी में कही। उस समय की हिंदी ‘हिन्दवी’

कहलाती थी। उनका जो अपना उच्चारण था, उनकी जो भाषाएँ थीं, जो उनकी अपनी क्रियाएँ थी, बोलचाल की भाषा में आती थीं, उन सबका इस्तेमाल किया।

...और यह बदलाव समय का तकाज़ा भी है।

समय के साथ हरेक भाषा बदलती है। हिंदी का वह रूप भी बदला है। आज हिंदी माने हिंदुस्तानी है। आज की जो हिंदी है, वह वो वाली हिंदी नहीं है, जो जयशंकर प्रसाद और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की थी। आज की हिंदी वह हिंदी है, जो हम बोलते हैं। हिंदी माने हिंदुस्तानी, जो बोलचाल की भाषा है। जिसमें उर्दू के शब्द भी आये हैं और इंग्लिश के शब्द भी आये हैं। आज की हिंदी में आपने कहा, 'दो कप चाय लाओ।' शब्द भले आपने अंग्रेजी का इस्तेमाल कर लिया, लेकिन किसी भी भाषा की पहचान होती है क्रियाओं (Verb) से— 'मैं जा रहा हूँ', 'हम जा रहे हैं'— जाने वाला जो काम है, ये जो Verb है। इस Verb का इस्तेमाल आप कौन सी भाषा में कर रहे हैं। उर्दू में भी इस भाषा का प्रयोग रहा है। उर्दू में गौर से देखिए, आप तो वे इजाफत यानी समाज प्रधानता कहते हैं; उसको छोड़ दीजिए तो सारे Verb तो हिंदी देती है। 'शाम ढल रही है' कह दो या "साँझ हो रहा है" कह दो। अब 'ढल रही है' में बाहर की क्रियाएँ नहीं हैं तो उर्दू के अंदर क्रियाएँ नहीं हैं। दरअसल, उर्दू कहीं और से तो आयी नहीं है। आप जानते हैं, उर्दू कोई बाहर की लैंग्वेज नहीं है। हमारे शायर जब अरब देशों में जाते हैं तो यहाँ की उर्दू अरब देश वालों को समझ में नहीं आती है। ऐसे में अरबी और फ़ारसी को उर्दू थोड़े ही कहा जा सकता है। आपको पता होगा कि उर्दू लश्करी ज़बान थी। उर्दू का मतलब ही लश्कर होता है। जो लोग फौज में लश्कर बनाकर जाते थे, उनकी एक लैंग्वेज होती थी; जहाँ-जहाँ गये, उनके शब्दों को एडॉप्ट (ग्रहण) करते गये। अंग्रेजी क्यों विकसित हुई? लैटिन से निकली, जरा-सी जगह से, लेकिन अंग्रेजों ने सारी दुनिया पर राज किया। जिसका नतीजा यह हुआ कि हर कहीं के शब्दों को अपनी डिक्शनरी में शामिल करते चले गये और उसका शब्द समूह बड़ा हो गया।

उर्दू और हिंदी की तरफ आज आगे बढ़ेंगे तो पायेंगे कि

उर्दू वाला भी कह रहा है 'जा रहा हूँ', हिंदी वाला भी कह रहा है, 'जा रहा हूँ'— तो यहाँ यह देखिए कि क्रियाएँ नहीं बदलीं। जब आपके दिमाग में हिंदी ग़ज़ल का कॉन्सेप्ट आयेगा तो यह मानना चाहिए कि हिंदी माने हिंदुस्तानी, अर्थात् हिंदी ग़ज़ल माने हिंदुस्तानी ग़ज़ल। वो भाषा, जो हिंदुस्तान की बोलचाल में है। जिसमें उर्दू के शब्द भी मिश्रित हो गये हैं। जिसकी फ़ारसीनिष्ठता और संस्कृतनिष्ठता धीरे-धीरे खत्म हो गयी है। आप देख रहे हैं कि उर्दू के शायरों ने भी फ़ारसीपन छोड़ दिया है। जिन्होंने फ़ारसीपन नहीं छोड़ा, उन्हें दुनिया बहुत कम जानती है। ग़ालिब तक ने यह बात समझ ली थी, इसलिए उन्होंने ने भी अपनी तमाम ग़ज़लें जला दीं, जो 'फ़ारसी' में लिखी थी। ग़ालिब, ग़ालिब के नाम से उतने प्रसिद्ध हुए, जितने असद के नाम से न हुए। उन्होंने जान लिया था कि जो आम जन की भाषा है, जिसे लोग समझते हैं, उसी में लिखा जाना चाहिए। यह और बात है कि उस समय जो उर्दू थी, उसे हम और आप नहीं जानते। लेकिन, उस समय समझी जाती थी। ग़ालिब का शिष्य था हाली। ग़ालिब को ग़ालिब बनाने वाला हाली था। हाली ने उनका प्रमोट (Promot) न किया होता, उनकी ग़ज़लों की व्याख्या न की होती तो आज मिर्जा ग़ालिब उस रूप में न होते जिस रूप में वो हुए। इस तरीके से वली, जो बड़े शायर थे। दिल्ली में आये तो किसी ने सिखा दिया, तुम तो यार हिन्दी में लिख रहे हो, फ़ारसी शब्द उसमें घुसेड़ो। उन्होंने ऐसा करना शुरू किया तो ग़ज़ल की शक्ल बदल गई।

जो मैं कहना चाहता हूँ, मेरा ख्याल है कि आपकी उलझन थोड़ी-बहुत कम हो गई होगी! अब हिंदी माने वह हिंदी नहीं, जो संस्कृतनिष्ठ हो। अब हिंदी का मतलब वह हिंदी, जो हम लोग रोजाना बोलते हैं। जिनमें उर्दू के शब्द भी मिश्रित हैं, जिनमें अंग्रेजी के शब्द भी मिश्रित हैं; हालांकि अंग्रेजी के शब्द उतने नहीं आये हैं, लेकिन अब धीरे-धीरे प्रयोग बढ़ रहा है। ऐसे में अब तत्सम शब्दों वाली भाषा नहीं चाहिए। तद्भव वाली चाहिए। बहुत-सी ग़ज़लों में भोजपुरी, अवधी, ब्रज का शब्द अचानक आ गया। मज़ा देता है वो। देशज शब्दों को भी काट-छाँट कर नहीं चल सकते। आप जिस हिंदी ग़ज़ल पर काम कर रहे

हैं, उसका मतलब ही है 'हिंदुस्तानी ग़ज़ल'। यह न तो हिंदी ग़ज़ल है और न ही उर्दू ग़ज़ल। भाषा की दृष्टि से विचार करें तो यह हिंदी है, लेकिन हिंदुस्तानी वाली हिंदी। आज के दौर में चाहे वो मुनव्वर राना हो, चाहे वो वसीम बरेलवी साहब हों, चाहे जो भी, इस विषय के बड़े शायर हों। जो दुनिया में जाने जाते हैं, वे वही शायर हैं, जो बोलचाल में ग़ज़लें कहते हैं। हिंदी का कोई भी ऐसा कवि बताइए, जो आज संस्कृतनिष्ठ लिखता हो और पॉपुलर (Popular) हो। आप नीरज को ही लीजिए। उन्होंने भी वही भाषा चुनी जो बोलचाल की है। आज आप जयशंकर प्रसाद की भाषा में मंच पर आ जाइए, मैं समझता हूँ समझ में नहीं आयेगी लोगों के। आप जानते हैं कि भाषा का स्वरूप बदलता रहता है। ऐसे में आज हिंदी का स्वरूप क्या है? हिंदी का स्वरूप वह नहीं है, जो बनारस के आसपास है। जो यहाँ के पंडितों की भाषा है। आज हिंदी भाषा का स्वरूप वह है, जो पूरे देश में बोली जाती है। जिसको पूरा देश समझता हो और जिसे दुनिया में भी समझा जाता हो। मैं 20 देशों में जा चुका हूँ। मेरी भाषा समझ में आती है, सबके। अगर, मैं बहुत शुद्ध हिंदी बोलूँगा तो कुछ समझ में नहीं आयेगा उनके। मुझे तो वह भाषा बोलनी है, जो सबकी समझ में आये। जिस भाषा में मैं आपसे बात कर रहा हूँ उसी भाषा में मुझे कविता करनी है। मैं अलग से भाषा का चुनाव नहीं कर रहा। हाँ, कोई महाकाव्य यदि लिखूंगा तो उसकी भाषा दूसरी होगी। यह एक अलग बात है।

हिंदी ग़ज़ल' की परंपरा की शुरुआत कहाँ से करेंगे ?

हिंदी माने आज की हिंदी नहीं। आप उस समय की हिंदी लीजिए न। एक ज़माने में हिंदी ब्रजभाषा मानी जाती थी। आप सम्पूर्ण भक्तिकाल को पढ़ जायें, हिंदी साहित्य को पढ़ जायें, आप जानेंगे या जानते हैं कि ब्रजभाषा ब्रज की बोली है। उसने भाषा का रूप धारण कर लिया। आपके बनारस के अंदर बैठा हुआ कवि ब्रजभाषा में कविता लिख रहा है। रत्नाकर का 'उद्धव शतक' याद कीजिए। अब आप देखिए कि रत्नाकर जी न तो ब्रज के थे और न ही उस भाषा के उतने परिचित थे; लेकिन वह इतनी फैल चुकी थी, सूर ने इतना फैलाया था कि आप कह

नहीं सकते कि वह एक क्षेत्र विशेष की बोली है। वही हाल अवधी का भी है। तुलसी की भाषा सारे हिंदुस्तान में समझी जाती है। जब साहित्य में भाषा (बोली) का इस्तेमाल होने लगता है और वह सारे देश में प्रचलित हो जाती है। ऐसे में आपको सोचना पड़ेगा कि उस हिंदी का क्या रूप था? जब आप हिंदी ग़ज़ल की परंपरा पर बात करेंगे तो आपको आज की हिंदी के बारे में नहीं सोचना पड़ेगा, आपको सोचना होगा कि खुसरों के ज़माने में हिंदी का क्या रूप था? अमीर खुसरों कहाँ के रहने वाले थे? एटा के, उसके आसपास ब्रज भाषा बोली जाती थी। ब्रजभाषा क्षेत्र के व्यक्ति थे। सूफी विचारधारा थी उनकी। दूसरे, वे घुमक्कड़ी आदमी, जहाँ गए, वहाँ से कुछ ले लिया। जो ब्रजभाषा का तेवर था, उसमें उन्होंने मुकरियाँ लिखीं या जो कुछ भी लिखा, सबमें ब्रजभाषा का पुट दिखाई देता है। ग़ज़ल भी कही तो पहली लाइन फ़ारसी में और दूसरी ब्रजभाषा में। उनके पिता जो थे, वो विदेश के थे। माँ हिंदुस्तानी थी। इसलिए दोनों प्रभाव उनकी कविता में मिल जाते हैं। ब्रजभाषा क्षेत्र में रहने के कारण वहाँ के लोकजीवन में गहरी पैठ थी, जो उनकी कविताओं में दिखाई पड़ता है।

अंग्रेजी पर भी सोंचे तो उस ज़माने की अंग्रेजी आज की अंग्रेजी नहीं थी, जब वह शुरू हुई। अतः आप देखें कि उस ज़माने में हिंदी का क्या रूप था? उस ज़माने की जो हिंदी है, उसी समय से आप मूल्यांकन करेंगे? फिर वह दक्षिण में पहुँच गयी, वहाँ हिंदी की क्रियाएँ चल रही थीं—“खूँ-कूँ” आदि।

उस ज़माने में जो वहाँ की हिंदी थी, वह यह थी। ऐसे होते-होते जब हम भारतेंदु युग में आते हैं तो उस युग की जो भाषा थी, उसमें उन्होंने कहा। अयोध्या सिंह उपाध्याय उर्दू और संस्कृत दोनों के मास्टर थे। उर्दू में भी मास्टरी थी और हिंदी में भी। संस्कृत के छंदों में भी मास्टरी थी। जब 'प्रियप्रवास' लिखा तो उसके छंद देखिए और जब 'चुभते चौपदे' लिखते हैं तो उसकी भाषा देखिए। उर्दू बाहुल्य चौपदे, लगता ही नहीं कि 'प्रियप्रवास' का कवि लिख रहा है। ऐसा लगता है कि उर्दू में ग़ज़ल कह रहा है। लैंग्वेज पर कमांड थी।

आप जानते हैं कि मुगल काल में (Period) फ़ारसी—

उर्दू का प्रचार-प्रसार ज़्यादा रहा। यही कारण है कि इस समय के साहित्य की भाषा ब्रजभाषा और अवधी की तरफ चली गई या फिर दूसरी तरफ मुड़ी तो उर्दू की ओर चली गई। उर्दू का सारा का सारा साहित्य ग़ज़लों से भरा पड़ा है। उर्दू को बड़े-बड़े लोग (रचनाकार) मिले। हिंदी का कवि नहीं है, जो ग़ज़ल कहता। यही वजह है कि भक्तिकाल और रीतिकाल में आपको ग़ज़लकार नहीं मिलेंगे। चूँकि, कबीर घुमक्कड़ आदमी थे। आज यहाँ है, कल वहाँ हैं। वो क्या है न 'हमन है इश्क मस्ताना...' अब 'हमन' कहाँ से आ गया। 'हमन' शब्द ढूँढ़ें। साधु आदमी थे, जो मजा 'हमन' कहने में है, वह 'हम' कहने में तो है नहीं।

“हमन है इश्क मस्ताना...” इस ग़ज़ल पर यह आरोप लगता है कि यह कबीर की ग़ज़ल नहीं है, क्योंकि इसके अलावा कबीर की कोई ग़ज़ल नहीं मिलती और फिर इसकी भाषा भी कबीर की अन्य रचनाओं से मेल नहीं खाती। आप क्या मानते हैं ?

कई बार क्या है न कि समकालीन लोगों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। मुझे ही देखिए मैं मूलतः गीतकार हूँ। ग़ज़लकार भी हूँ, लेकिन मैंने छंदमुक्त कविताएँ भी लिखी हैं। मेरे दो संग्रह हैं, उसे आप पढ़ेंगे तो लगेगा ही नहीं कि यह कुँअर बेचैन का होगा। आपको पूरा शक होगा कि यह कुँअर बेचैन की कविता नहीं हो सकती, अगर नीचे मेरा नाम नहीं लिखा होगा। कबीर कोई पढ़े-लिखे आदमी तो थे नहीं; वे अपनी कविता सुना रहे हैं और दूसरा आदमी लिख रहा है। किसी दिन मूड में आ गये और यही सुना दिया। किसी ने लिखा, किसी ने नहीं लिखा। यह किसको पता ? ठीक है न। लोकजीवन से जुड़े हुए गीत हैं, आप नाम बता सकते हैं कि यह गीत किसका है ? यह तो गाने वालों के होठों-से-होठों तक गया, सच किसी को पता ही नहीं है। गाँव की औरतें अपनी तरफ से लाईन जोड़ रही हैं, अब किसने कौन सी लाईन जोड़ दी। यह किसको पता ? यह मौखिक परंपरा है। जो मौखिक परंपरा के संत, महात्मा या अनपढ़ लोग थे; उनकी शिष्य मंडली होती थी। वही जितना लिख लिया, लिख लिया। आप उस पर डाउट कर भी सकते हो और नहीं भी।

एक बात बार-बार मन में आती है कि एक आदमी

पूरी मस्ती के मूड में कुछ कह रहा है... तो इस मूड में जरूर कुछ और कहा होगा ?

हाँ, हो सकता है। लेकिन, यह भी तो हो सकता है, कुछ और न कहा हो। एक प्रयोग किया हो। यह सोचकर कि और लोग कर रहे हैं, चलो मैं भी ऐसा करके देखता हूँ।

क्या आप कबीर की मानते हैं ?

यह तो हमेशा से होता आया है। यह डॉउटफुल है। आप जानते हैं कि वीरगाथा काल पर कितने आरोप हैं। जो महाकाव्य लिखे गये हैं, उसमें कितना अंश प्रक्षिप्त है। यहाँ तक कि जो स्थापित कवि हैं, जो लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे और जो जानते भी थे, उन पर यह आरोप लगा हुआ है। जो मौखिक परंपरा के कवि हैं, वे हमेशा विवादास्पद रह सकते हैं। यह तो आपकी मर्जी पर निर्भर है कि आप उसे स्वीकार करें या न करें। लेकिन, मैं यह मानता हूँ कि उनकी न हो तो भी मैं कैसे कहूँ ? नहीं है और है तो भी कह नहीं सकता हूँ कि उन्हीं की है। दोनों बातें मेरे सामने आती हैं। प्रामाणिक रूप से नहीं कह सकते कि उन्हीं की है या उनकी नहीं हैं ? इसलिए हम तो कबीर की मान की चलते हैं।

ग़ज़ल की शुरुआत अरब से होती है। यह विधा फ़ारस के रास्ते हिंदुस्तान में आती है। ऐसे में क्या आप जानते हैं कि एक विधा, जब अपने मूल उत्स से हटकर कहीं दूसरे स्थान पर जाती है, दूसरे देश में जाती है तो उसमें कोई परिवर्तन होता है ?

हाँ, परिवर्तन तो होगा ही। भाषा में भी परिवर्तन होता है। जैसे आप 'जल' को ही लें। बंगाल में जाकर 'जोल' हो जायेगा। जब हमारे एक देश के अंदर परिवर्तन हो गया तो बाहर से आने पर परिवर्तन होना लाज़िमी है। यह परिवर्तन उच्चारण से लेकर शब्द के स्वरूप तक में हो सकता है। इसके साथ ही दूसरी जो महत्वपूर्ण बात है, वह यह कि किसी भी भाषा का एक कल्चर होता है। अब मूल बात यह है कि आप जिसे हिंदी ग़ज़ल कहते हैं, वो है क्या ? अब मैं हिंदू परिवार में पैदा हुआ, बचपन से मंदिरों में जाता हूँ, मैं मस्जिद में तो नहीं गया। बचपन से मैंने देखा कि माँ-बहनें छत पर जाकर पूर्णिमा को जल चढ़ा

रही हैं। ये तो मैंने देखा न, तो जो हमारे कल्चर का बैकग्राउंड है, जिस भाषा-भाषी कल्चर से हम आते हैं, उसी भाषा और कल्चर से जुड़ जाते हैं। कोई-कोई की बात छोड़ दीजिए। ऐसे में तो यही कहूँगा—

जिस रात पूर्णिमा में नहा लेगी चाँदनी।

पानी को सागरों से उछालेगी चाँदनी॥

अब मैं कह रहा हूँ के “जिस रात पूर्णिमा में नहा लेगी चाँदनी” और उर्दू वाला कह रहा है, ‘चौदहवीं का चाँद हो या आफताब हो’ क्यों कह रहा है? दरअसल, वहाँ ‘चौदहवीं के चंद्रमा’ का महत्त्व है, यहाँ ‘पूर्णता के चंद्रमा’ का। अगला देखिए—

सोचा न था कि मैंकदे से खींचकर।

मंदिर की सीढ़ियों पे बिठा लेगी चाँदनी॥

‘मंदिर’ ही आयेगा न, ‘मस्जिद’ तो नहीं आयेगा। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि हिंदी ग़ज़ल का मतलब क्या है? थोड़ा-सा अलग हटकर जो बात कहना चाह रहा हूँ, वो यह है कि हिंदी ग़ज़ल में भाषा के साथ-साथ कल्चर (Culture) कौन-सा है? वो कौन-सी कल्चर की बात कर रही है? उसमें भाषा-भाषियों से जुड़ी हुई बात आ रही है कि नहीं। आपने भक्ति संप्रदाय पढ़ा होगा? उसमें ‘पुष्टि संप्रदाय’ है। ऐसा क्यों हुआ कि सबको परमात्मा ने तार दिया। अजामिल को तार दिया। हमारे यहाँ तो कर्मफल का सिद्धांत है; फिर जैसा कर्म होगा वैसा फल मिलेगा। तब अजामिल को मुक्ति कैसे मिल गई? सोचने की बात है, जिन लोगों ने खराब काम किये वे भगवान की तीर से मारे गये तो मोक्ष मिल गया। जबकि हमारे भारतीय सिद्धांत में कर्म के आधार पर फल है, लेकिन ‘पुष्टि संप्रदाय’ ने कर्मफल की अवधारणा बदल दी। वल्लभाचार्य ने या उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने क्या कहा? ‘पुष्टि’ का मतलब ‘कृपा’। सारी दुनिया एक तरफ, यदि राष्ट्रपति कह दें फाँसी माफ तो फिर माफ। उसी तरह एक व्यक्ति है हमारे यहाँ वह है ‘परमात्मा’, यदि उसकी कृपा हो जाये तो हमारे सारे जुल्म माफ। हम तर जायेंगे और मोक्ष भी मिल जायेगा।

इसी ग़ज़ल का एक शेर और देखें— दरअसल, यह ग़ज़ल एक कल्चर है—

किसको पता था देह की दिवार फाँदकर।

मुझसे ही कभी मुझको चुरा लेगी चाँदनी॥

‘आत्मा की बात’ यह किसी और कल्चर में तो है नहीं। यह तो हमारे यहाँ ही है। दूसरे में रूह मानते हैं, लेकिन उसे अमर नहीं मानते। ऐसे में ग़ज़ल होते हुए भी जो हिंदी वाला कल्चर है, वह भी देखना पड़ेगा।

ये सोच के मैं उम्र की ऊँचाइयाँ चढ़ा।

शायद यहाँ, शायद यहाँ, शायद यहाँ है तू॥

पिछले कई जन्मों से ढूँढ़ रहा हूँ तुझे।

जाने कहाँ, जाने कहाँ, जाने कहाँ है तू?

अब पिछले कई जन्मों से यह उर्दू वाला नहीं बोलेंगा। वह पुनर्जन्म तो मानता नहीं। इस्लाम धर्म कई जन्मों की बात करता नहीं। हमारे यहाँ कई जन्मों की अवधारणा है। उर्दू शायर कोई और टुकड़ा लगाता, वह यह शब्द बोलता ही नहीं। ये अलग बात है कि करीबियों के कारण वह ऐसा बोल जाये और हम उसका बोल जायें। अब वे राम-सीता का जिक्र भी करते हैं। हम भी उनका जिक्र करते हैं। ये अलग बात हुई।

जब भी ‘विधा’ को लेकर बात चलती है, उर्दू के आलोचक बार-बार ग़ज़ल को ‘दोहा’ के समक्ष रखते हैं और बताते हैं कि जिस प्रकार ‘दोहा’ तत्समनिष्ठ या तद्भवनिष्ठ भाषा में ही जीवंत होता है, यदि उसमें फ़ारसीनिष्ठ शब्दावली का बाहुल्य हो तो उसकी आत्मा मर जाती है। ठीक इसी तरह जब तक ग़ज़ल में फ़ारसीपन या उर्दूपन नहीं आता, उसमें निखार नहीं आता। इस संदर्भ में मैं यही जानना चाहता हूँ कि ‘ग़ज़ल’ हिंदुस्तान में आयी तो उसमें सांस्कृतिक परिवर्तन हुए, लेकिन क्या ऐसा भी है कि फ़ारसीपन या उर्दूपन के अभाव में उसकी नफ़ासत और नज़ाकत में कुछ फर्क पड़ा?

मैं दो बातें मानता हूँ। पहला यह कि फर्क पड़ता है। दूसरा प्रयोग पर निर्भर करता है। उस कवि पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार की भाषा बोलता है? मैंने एक दो ग़ज़लें ऐसी भी कही हैं, जिनमें संस्कृतनिष्ठता है, लेकिन वे आपको पसंद आयेंगी। आपको ऐसा नहीं लगेगा कि इसमें कोई अलग तरह की बात है। ऐसी ग़ज़लें भी कही हैं जहाँ दोनों के बीच में हूँ। और ऐसी ग़ज़लें भी हैं,

जो बिल्कुल उर्दू की हैं, बोलने में।

दुष्यंत कुमार हमारे सामने श्रेष्ठ उदाहरण हैं, तत्समनिष्ठ ग़ज़लकार के रूप में, जिनके यहाँ भाषा का प्रवाह देखते बनता है, इसका क्या कारण है?

मैंने कहा न कि यह प्रयोग पर निर्भर करता है। मेरा ही शेर देखिए—

नदी में तट पे जो जल तरंग बोलते हैं।
हमें न छेड़िये यौवन में अंग बोलते हैं॥

इस पूरी ग़ज़ल में तत्समनिष्ठ तुकांत रदीफ है। मेरी हिंदी की ऐसी भी ग़ज़लें हैं, जिनमें एक शब्द भी उर्दू का आपको नहीं मिलेगा और ऐसा भी नहीं लगेगा कि उसमें भरती के शब्द हैं या हिंदी भरी पड़ी है। यह प्रयोक्ता पर निर्भर करता है कि वह कहीं हिंदी या शुद्ध हिंदी के चक्कर में पड़कर ग़ज़ल की हत्या कर रहा है या उसके अंदर शेरियत पैदा कर रहा है?

अगर आम बोलचाल की भाषा में, जिस भाषा को आप बोलते हैं। चाहे उसमें संस्कृतनिष्ठता ही क्यों न हो, अगर वैसा बोल रहे हैं तब भी बात बन जाती है। मैंने पन्द्रह पृष्ठों का एक लेख लिखा था, 'ग़ज़ल कही जाती है, लिखी नहीं जाती' उसके अंदर मैंने इन तमाम बातों को समझाने की कोशिश की थी। क्या होता है कि जैसे मैंने कहा— 'लश्करी ज़बान', पुराने ज़माने में लिखना तो होता नहीं था, वह बोलचाल की भाषा थी। एक जगह से दूसरी जगह। अब बोलचाल में ही मैं आपको बोलकर के बताता हूँ। दो तरह से बोलूँगा, एक ही वाक्य को जैसे मान लो मैं बोलता हूँ—

साहब आप कहाँ जा रहे हैं?

साहब आप कहाँ जा रहे हैं?

ऐसा बोलचाल में होता है। हिंदी में एक परम्परा बोलचाल की है। आप ग़ज़ल में आयेंगे तो बोलचाल का ही ध्यान रखना पड़ेगा। हिंदी में भी ध्यान देना होगा, नहीं तो जैसा लिखा जाता है, वैसा पढ़ा जायेगा तो हो सकता है ग़ज़ल थोड़ी-सी कमजोर पड़ जाये। हो सकता है कि ग़ज़ल के अंदर वो ताजगी न आ पाये, जिस ताजगी की आप तलाश करते हैं, जिस ग़ज़लियत की तलाश करते हैं, उसमें शायद न मिले। कोई ग़ज़ल किसी भी बड़े-से बड़े

शायर की उठा के देख लीजिए, हिंदी को ही या उर्दू को ही। मैं ही बोल रहा हूँ—

अपने मन में ही अचानक यूँ सजल हो जायेंगे।
क्या खबर थी आपसे मिलकर ग़ज़ल हो जायेंगे॥
भोर की पहली किरण बन के जरा दू दीजिए।
आपकी सौगंध हम खिलकर कमल हो जायेंगे॥

इसे पढ़ने के दौरान 'अपने' का 'ने' और आपकी का 'की' पूरा नहीं बोला जायेगा। यहाँ मात्रा ही ह्रस्व ध्वनि आ रही है। अतः मैं बोलचाल में चला गया, लिखने में नहीं गया। लिखने में गया होता तो 'ने' और 'की' को पूरा उच्चारित करता। ग़ज़ल में जो भाषा है, वो बोलचाल की है। जिसे उर्दू ने बनाया है। यदि वहाँ मात्रा गिराने का रिवाज़ है तो आपको हिंदी में भी मात्रा गिरानी पड़ेगी। यदि आपने नहीं गिराया तो आपको परेशानी पैदा होगी और आप बोलचाल की भाषा से अलग हट जायेंगे। आप देखेंगे कि बोलने में आप हमेशा पूरे शब्द नहीं बोलते, हाँ लिखने में आप लिखते जरूर हैं।

ग़ज़ल की जो भाषा है, वह बोलचाल की भाषा है। मैं गीत सुनाता हूँ। मेरा पॉपुलर गीत है—

नदी बोली समंदर से
मैं तेरे पास आयी हूँ।
मुझे भी गा मेरे शायर
मैं तेरी ही रूबाई हूँ॥

यहाँ भी 'मैं' पूरा बोल रहा हूँ?

नहीं।

उसी तरह 'मुझे भी गा मेरे शायर' में 'मेरे' पूरा बोल रहा हूँ?

नहीं।

उत्तर— छोटी मात्राएँ बोल रहा हूँ। यह बोलचाल की भाषा है। यदि ऐसा नहीं होगा तो यह बहर (छंद) से खारिज़ हो जायेगा। यहाँ आप देखेंगे कि बोलचाल की भाषा में यह 'बहरे हज़ज़' में आ गया। जिसे मैंने कोकिला छंद नाम दिया है। 'बहरे हज़ज़' का मुख्य रुकन 'मफाईलुन' है। जहाँ उर्दू में यह 1555 है, वहीं हिंदी में 1551 होगा। उर्दू में तीन तरह के शब्द होते हैं— सबब, वतद, फ़ासेला। सबब में दो अक्षर एक साथ उच्चारित होते हैं; जैसे—

शब। वतद में तीन अक्षर होते हैं जिनमें एक अक्षर अलग और दो अक्षर अलग उच्चारित होते हैं; जैसे- करम। फ्रासेला में चार अक्षर होते हैं, जिनके उच्चारण में हर अक्षर स्वतंत्र उच्चारित होते हैं। जैसे- हरक्रत। 'गज़ल का व्याकरण' मेरी किताब है, उसमें मैंने बहुत कुछ लिखा है। बहर मेरे अंदर बाहर बस गयी है। गीत भी निकला तो बहर में ही निकला। मैंने संस्कृतनिष्ठ शब्दों और उर्दू के बहरों के बीच पुल बनाने की कोशिश की है। आप सरगम शब्द को ही लें, मात्राएँ चार हैं, लेकिन दोनों में वजन बदल जायेगा- हिंदी में ।।।। जबकि उर्दू में SS होगा। अब दोनों में जितने भी शब्द आयेंगे, इन्हीं मात्राओं के आधार पर आयेंगे। दोनों को अपनी पद्धति में आना पड़ेगा। हमने कहा न कि कोई भाषा या विधा जब एक जगह से दूसरी जगह जायेगी-आयेगी तो वहाँ की भाषा का स्वरूप, वहाँ की भाषा का तरीका; वह आपको जानना पड़ेगा। यदि मात्रा गिर रही है तो आपको हिंदी में भी गिरानी पड़ेगी।

क्या यही वजह है कि डॉ. शम्सुर्रहमान फ़ारुकी ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक और डॉ. हातिम जावेद ने अपने ग़ज़ल संग्रह में लिखा है कि उर्दू के पास कुछ ह्रस्व मात्राएँ हैं, जो हिंदी के पास नहीं हैं और उर्दू के पास हिंदी का 'ण' नहीं है, तो दोनों ने हिंदी और उर्दू में इनके लिए नये अक्षर या Symbol लाने की बात कही है। इससे कुछ हल निकलेगा ?

आपने सही कहा। क्या है कि जब आप उर्दू सीखते हैं तो प्रारंभ के दिनों में आप जेर-जबर की मात्राएँ लगाते हैं, बाद में चलकर जेर-जबर लगाना छोड़ देते हैं जब आप शुरू में पढ़ेंगे तो 'मुहब्बत' ही पढ़ेंगे, क्योंकि मात्राएँ लगा रखी हैं, लेकिन जब बाद में लिखना एडवांस हो जाता है तो 'मोहब्बत' ही पढ़ा जायेगा। ऐसे में दोनों ही शब्द जायज हैं। जैसे मैं हिंदी सीखूँगा तो मुझे ऊपर की लाइन भी लगानी पड़ेगी और बाद में नहीं भी लगाऊँगा तो पढ़ ही लिया जायेगा। जैसे आप भी बिना लाईन के ही लिख रहे हैं; लेकिन बिना लाईन (सिरोरेखा)वाली भाषा हमारी तो है नहीं, फिर भी आप समझ गये। इसी प्रकार से वहाँ पर दोनों तरह की लैंग्वेज स्वीकार्य है। मोहब्बत और मुहब्बत भी। ऐसे में जो बात वहाँ से आयी, आप यहाँ पर भी वैसा

ही करेंगे। जब ग़ज़ल कह रहे हैं तो उसके फार्म के करीब आने के लिए उसके कल्चर और लिपि की बारीकियाँ आपको ध्यान में तो रखनी पड़ेंगी। मेरे एक मित्र थे, 'ज' और 'ज़' वाली बात आपने कही थी न। क्या होता है कि एक लिपि होती है और एक भाषा होती है। लिपि चिह्न है भाषा को व्यक्त करने वाली, जो प्रतीक आपने गढ़ लिये वही लिपि हो गई न।

जी।

मेरे एक मित्र थे- इसरत कानपुरी साहब। गाजियाबाद में ही रहते थे। बहुत बड़े शायर थे। उस्ताद शायर। बोले कि कुँअर हमारी कुछ ग़ज़लें हिंदी वाली मैगजीन में भिजवा दो और आपकी कुछ ग़ज़लें मैं उर्दू वाली मैगजीन में भिजवा देता हूँ। उन्होंने एक ग़ज़ल लिखवाई, मैंने देवनागरी में लिखकर भेज दी। मुझसे बोले- आप लिखवाओ- मैंने एक ग़ज़ल कही-

हम रोये किसी त्योंहार से रहकर अलग।

कौन जीता है यहाँ प्यार से रहकर अलग।।

स्वर्ण मुद्राएँ तुम्हारी भी हथेली चूमतीं।

तुम ग़ज़ल कहते रहे दरबार से रहकर अलग।।

मैंने यह ग़ज़ल कही तो दूसरे शेर को लिखने में उन्हें परेशानी आ गई। स्वर्ण को 'सर्वर्ण' लिखना पड़ा तो बहर से खारिज होने के साथ ही उच्चारण भी बदल गया। मुझसे बोले- यार ये तो बड़ी परेशानी हो रही है। इन समस्याओं को लेकर निदा फाजली, बशीर बद्र, वसीम बरेलवी साहब से मेरी बातें हुई, जो आपसे बोल रहा हूँ। मैंने कहा कि दरअसल देखिए, हमारी देवनागरी लिपि में केवल 'क' और 'ज' आदि हैं, जबकि आपके यहाँ 'क' दो तरह के हैं, 'ज' तीन तरह के हैं। आपके यहाँ सभी का उच्चारण अलग-अलग है, लेकिन हमारी लिपि में सिर्फ एक ही है तो हम क्या करें, क्या करें हम ? हम तो राज को भी राज ही लिखेंगे, क्योंकि हमारी देवनागरी लिपि में 'ज़' है ही नहीं। हाँ, आपके करीब आने की वजह से हमने देवनागरी लिपि में भी नुक्ता वाला अक्षर ले लिया है। फिर भी, समस्या है कि 'जोय' में क्या करोगे ? दो नुक्ता लगाओगे। जवाद के लिए क्या तीन नुक्ते लगाओगे ? क्या करोगे ? कैसे अलग करोगे ? जब दूसरी भाषा का शब्द

अन्य भाषा में आता है तो लिपि की समस्या आती है। ये लिंग्विस्टिक वाला आदमी जानता है। शायर भी नहीं जानता। इस बात को लिंग्विस्टिक का आदमी ही जानता है और उससे दो-चार होता है। चूँकि, बशीर बद्र साहब और वसीम बरेलवी साहब प्रोफेसर रहे, इसीलिए उनके सामने ये प्रश्न आये। उन लोगों ने मेरी बात को भी स्वीकार किया। उन लोगों ने कहा कि आप बिल्कुल सही कह रहे हैं। मैं कॉलेज में पढ़ाता था तो मेरे सामने भी ये समस्याएँ आती थीं।

अंग्रेजी वाला 'त' बोलके दिखा दे? वह 'त' को 'ट' बोलेगा। 'त्यागी' 'ट्यागी' हो जायेगा। लिपि की मजबूरियों को समझना चाहिए। यह दोनों लिपियों के बीच दीवार है तो उसे गिरानी चाहिए। उसमें दरवाजा बनाना चाहिए।

डॉ. हातिम जावेद ने कुछ चिह्न सुझाये हैं, अपने ग़ज़ल संग्रह 'वक्त की हथेली में' की भूमिका में?

हाँ, तो अब डेवलप हुआ।

उन्होंने यह हिम्मत जुटाई है कि एक रास्ता निकले। बहुत अच्छा, निकलना भी चाहिए।

अमीर खुसरो और कबीर के बाद उत्तर के बजाय ग़ज़ल दक्खिन की ओर बढ़ जाती है। इसका केन्द्र बीजापुर और गोलकुण्डा बनता है। यहाँ ग़ज़ल का क्रमिक विकास दिखाई देता है। उसमें कहीं कोई काट-छाँट नहीं है। जबकि उत्तर में यह विकास ठप पड़ जाता है। लेकिन, भारतेंदु युग में ग़ज़ल की वापसी उत्तर भारत में होती है। इससे कुछ पहले वली दकनी के दिल्ली आने के बाद दिल्ली में कही जा रही ग़ज़लों की भाषा में बदलाव आता है और उत्तरी क्षेत्र सक्रिय हो जाता है। ऐसे में क्या यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान में उत्तर की ओर ग़ज़ल की जो शताब्दियों तक गैपिंग रही है, वह दक्खिन में विकसित होती रही और बाद में उसने पूरे हिंदुस्तान को अपने केन्द्र में ले लिया?

हाँ, उसके पीछे क्या है कि कोई भी पीरियड रहा हो, चाहे अंग्रेजों का शासनकाल रहा हो, चाहे मुगल काल। केन्द्र में दिल्ली और आगरा रहा। भले चाहे बीजापुर में मुगल सल्तनत पहुँच गयी हो, चाहे कहीं भी; लेकिन जो

मूल रहा, वो दिल्ली और आगरा। दिल्ली और आगरा रहने के कारण उस क्षेत्र का कल्चर, भाषा, साहित्य, तौर-तरीके उसमें ज्यादा महत्वपूर्ण रहे। आज भी यह प्रश्न बना हुआ है कि हिंदी का विकास उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में क्यों नहीं हो पाया? आज भी यह महत्वपूर्ण है। इस मंडल में कौन-सी भाषा डेवलप हुई? ब्रजभाषा। यही वजह है कि मैंने कहा कि पूरे देश भर के अंदर ब्रजभाषा साहित्य पहुँचा, जबकि वो बोली थी।

आगरा व्यवसाय का केन्द्र था, इस वजह से।

हाँ, यहाँ कि उर्दू तक में भी, दिल्ली और लखनऊ घराना ही रहा। बड़े-बड़े शायर ने घराने के हिसाब से लैंग्वेज का थोड़ा परिवर्तन कर लिया था। यह कहने का परिवर्तन था। एक तो यह कारण था, दूसरा पूरा भक्तिकाल ब्रजभाषा और अवधी में है। उस दौर का सम्पूर्ण लिटरेचर ब्रजभाषा और अवधी में लिखा गया। जो मानक बना, वह ब्रजभाषा और अवधी का ही बना। किसी और बोली या लैंग्वेज का मानक नहीं बना। जबकि कई आंदोलन चलाये गये अपनी-अपनी संस्कृति और धर्म को बचाने के लिए। निर्गुण-सगुण दोनों में। समय-समय की बात है। आपकी (ग़ज़ल) बात नहीं कर रहे हैं। उस समय ग़ज़ल ओझल क्यों रही? क्योंकि सारा का सारा जो भक्तिकालीन और रीतिकालीन कविता थी, थोड़ा राजस्थान भी जोड़ लें, जयपुर वगैरह, ये सब उत्तर भारत का एक सर्किल था, उसके अंदर ही पूरा साहित्य लिखा जा रहा था। यही कारण है कि न तो उर्दू भाषा उभर के आई और न ही उनकी विधा। यहाँ के मंदिरों में गाये जाने वाले पद वगैरह मीरा ने लिखे। आगे चलकर खड़ी बोली में अंग्रेजों के ज़माने में ऐसी भाषा की जरूरत थी, जो पूरे देश को बाँध सके। गाँधी जी, जो गुजरात से आये थे, उन्होंने भी हिंदी में ही भाषण देना शुरू किया। खड़ी बोली ही एक ऐसी भाषा थी, जो पूरे भारत में अपने विचारों को व्यक्त करने का बड़ा माध्यम थी। नेताओं ने टूटी-फूटी चाहे जैसी भी खड़ी बोली बोलना शुरू किया। भले ही 'स' को 'श' बोलते हैं। अलग-अलग क्षेत्र में अलग-अलग तरह से बोलते हैं। गुजराती अपनी तरह से, राजस्थानी अपनी तरह से। दिल्ली की जो भाषा है, जिसे 'कौरवी' कहते हैं। मैं गाजियाबाद में रहता हूँ, वह भी

कौरवी बोली का क्षेत्र है। वहाँ कहते हैं, “क्या बैट्टा बैट्टा बातें बना रहा है?” वहाँ की प्रवृत्ति है डबल बोलने की। बैट्टा, और न को ण बोलने की। यह खड़ी बोली ही है। दरअसल कहते तो हम खड़ी बोली है, लेकिन वह खड़ी भाषा है। यही भाषा हिंदी है। देश भर के लोग इसी भाषा को बोलते हैं। इस तरह आप मानेंगे कि या तो बोलियों का साहित्य विकसित रहा या तो दिल्ली की ब्रजभाषा या अवधी में यही रूप रहा। धार्मिक भावना से जुड़ा हुआ सारा साहित्य रहा, इसलिए हम उसके साथ नहीं जा पाये, भाषा में और न ही टेक्नीक में। हाँ, टेक्नीक यदि रही तो सवैया, कवित्त, चौपाई, दोहा पद्धति में ही, उसी में सब लिखा गया। वे ग़ज़ल की तरफ नहीं गये।

आपने ग़ज़ल लिखने की प्रेरणा कहाँ से पाई ?

जब मैं इंटर में पढ़ता था, तभी मैंने एक दो ग़ज़लें कही थीं—

मेरे पास तू नहीं तो मेरे पास तेरा गम है।

तेरी याद संग है मेरे क्या मेरे लिये ये कम है॥

तकनीक नहीं जानता था, पर इस ग़ज़ल का एक शेर बड़ा प्रसिद्ध हुआ था—

मेरे दिल पर आज लिख दो बोल प्यार ही के।

मेरा दिल बना है कागज तेरी हर नज़र कलम है॥

मैं इंटर में था, लोगों ने बड़ा सराहा— “अरे! क्या कह दिया।” जहाँ तक उस समय का ख्याल है, उस समय न ग़ज़ल कहने की तमीज़ थी, न ग़ज़ल के बारे में ज्यादा जानते थे। हमारे घर के सामने एक लालाजी रहते थे। जहाँ मेरी पढ़ाई-लिखाई हुई। लालाजी उर्दू जानते थे। उनके पास उठता-बैठता था। उस समय हाईस्कूल पास कर रहा था। सन् 57 की बात है। लालाजी बोले, उर्दू सीख ले। मेरे मन में यह बात आई— हाँ, सीख ले। उन्होंने उर्दू लिखना सिखाया। मैंने पन्द्रह दिन में दर्जा 1,2,3 की किताबें पढ़ी और मोटे-मोटे अक्षरों में लिखना सीख लिया था। लेकिन पन्द्रह दिन के बाद वह खत्म हो गया। उर्दू की मेरी कोई मुकम्मल तालीम नहीं हुई। उनका लड़का उनको चंडीगढ़ ले गया और मेरी उर्दू बीच में ही रह गई। खैर, वह बात खत्म होती चली गई। फिर बाद में बालस्वरूप राही, रूपनारायण त्रिपाठी वगैरह ने ग़ज़लें

कही तो मैं भी सोचा करता था कि ग़ज़लें कहनी चाहिए। वैसे मूलतः गीतकार ही रहा। नवगीतकार के रूप में 1965 में गाजियाबाद आ गया। महानगर के करीब होने के कारण टकराहट-सी नजर आती थी। कस्बाई संस्कृति और वहाँ की संस्कृति में। भीतर की बातें बाहर आने लगी। कहाँ वो गीत लिखा था, जब मैं बी.ए. का छात्र था—

जितनी दूर नयन से सपना

जितनी दूर अधर से हँसना

बिछुएँ दूर कुँवारी पाँव से

उतनी दूर पिया तू मेरे गाँव से॥

यह सन् 1961 ई. का लिखा हुआ गीत है। यह बहुत फेमस हुआ। कहाँ, जब गाजियाबाद आया तो लिख रहा था—

मीठापन जो लाया था मैं गाँव से

कुछ दिन शहर रहा अब कड़वी-कड़वी है

तब तो नंगे पाँव धूप में ठंडे थे

अब जूतों में रहकर भी जल जाते हैं।

यह सहज रूप से आया। लोगों ने कहा कि यह नवगीत है। मुझे पता ही नहीं था कि नवगीत होता क्या है? लेकिन इधर से जो टकराहट आई, लोगों ने कहा कि यह नवगीत है और मैं नवगीतकार के रूप में प्रसिद्ध हो गया। वह गीत है—

अधर-अधर को ढूँढ़ रही है इक भोली मुस्कान।

जैसे कोई महानगर में ढूँढ़े नया मकान॥

अब ये सारी महानगरीय चेतना पूरी की पूरी आ गई, देखें—

मन है एक हजारों जिसमें बैठे हैं तूफान

जैसे एक शख्स के घर में रुके कई मेहमान।

वहाँ की संस्कृति-सभ्यता सारा माहौल मेरे गीतों में आने लगा—

नयन गेह से निकले आँसू ऐसे डरे-डरे

भीड़-भरा चौराहा जैसे कोई पार करे।

यह कादम्बिनी में छपा। माहौल बदलता है, भाषा बदलती है, सैम्बल्स यानी प्रतीक बदलता है, जैसे यह प्रतीक देखें—

साँसों के पीछे बैठे हैं नये-नये खतरे।

जैसे लगे जेब के पीछे कई जेबकतरे॥

जब दिल्ली में आया तो फेल हो गया। बहुत-सी

शादीशुदा महिलाएँ बिछुआ ही नहीं पहनती। जो प्रतीक चंदौसी में बहुत प्रसिद्ध था, वह दिल्ली में दिखाई नहीं पड़ता। औरतें सिंदूर भी कम लगाती हैं, या लगाती ही नहीं। यह अंतर आता है। यह परिवेश का अंतर है।

*जिन्दगी का अर्थ मरना हो गया है,
और जीने के लिए हैं दिन बहुत सारे।
वेटनों का अर्थ चुभना हो गया,
और चुभने के लिए हैं ऋण बहुत सारे।।*

अब चंदौसी में न पिनकुशन न पिन। वहाँ यह प्रतीक काम नहीं करता। जो ये इमेज बनती है—

*इस समय के मेज पर रखी हुई जिन्दगी है पिनकुशन जैसी
दोस्ती का अर्थ चुभना हो गया और चुभने के लिए हैं पिन
बहुत सारे।*

पहले क्या कहते थे, जिन्दगी पानी का बुलबुला है। हम कह रहे हैं कि ऋण माने वही नहीं हैं, सारे ऋण हैं—गुरु ऋण, मातृ ऋण, पितृ ऋण, ये सब। एक माहौल कहाँ गाँव का, दूसरा कहाँ शहर का। कहाँ कस्बे में पढ़ाई—लिखाई हुई। और कहाँ नौकरी लग गई शहर में। सारे प्रतीक बदल गये। ग़ज़ल जो है इन गीतों से होकर आया। दुष्यन्त (दुष्यन्त कुमार) चंदौसी में पढ़े—लिखे थे। उसी कॉलेज में, जिसमें मैं पढ़ा। उस समय मैं नवीं कक्षा में था, शायद वे इंटर में थे। थोड़ा—बहुत इधर—उधर हो सकता है। इतना ध्यान है कि मुझसे चार—पाँच साल बड़े थे। सुन्दर से थे। लंबे थे। इतना याद है कि बाद में हॉस्टल में चले गये, गाजियाबाद में। वहाँ बिजनौर तक से लोग पढ़ने आते थे। रामावतार त्यागी और उर्मिलेश भी उसी कॉलेज से पढ़े थे। उर्मिलेश तो मेरे दस साल बाद पढ़े। उस समय दुष्यन्त जी गीत लिखते थे। ‘परदेसी’ उपनाम था उनका। वे मंच पर गीत ही सुनाते थे।

क्या तरन्नुम में सुनाते थे कि तेहत में ?

कभी—कभी तरन्नुम में, वैसे ज्यादातर तेहत में ही।

उनका रुख ग़ज़ल की तरफ कैसे हुआ ?

वे हायर एजुकेशन लेने के लिए इलाहाबाद आ गये। कमलेश्वर जी और वह एक कमरे में रहते थे। क्लासमेट भी थे, रूममेट भी थे। लंगोटिया यार हो गये। उस समय इलाहाबाद में प्रगतिशील आंदोलन चल रहा था। दोनों

प्रगतिशील विचारधारा के कवि थे। इसके बाद दुष्यन्त जी अतुकांत के कवि हो गये। उन्होंने फ्री वर्स लिखा और कमलेश्वर कहानीकार हो गये। उनकी नौकरी लग गई भोपाल में। वहाँ पर ताज भोपाली करके एक शायर थे, वे उनके नजदीक आ गये और देखा कि यार ग़ज़ल के अंदर बड़ा तेवर है। उन्होंने ग़ज़ल का तेवर आत्मसात् किया। भोपाल शहर ही है ग़ज़ल का और माहौल भी। वहाँ ग़ज़लकार भी बहुत रहे। उन्होंने ग़ज़लें लिखनी शुरू की। अब होता क्या है कि किसी का भाग्य और समय मतलब परिश्रम और परिस्थिति दोनों जुड़ जाती है तो पॉपुलैरिटी आप ही मिलने लगती है। जब शुरू किया तो पॉपुलर नहीं हुए थे, पॉपुलर हुए अपने निधन के बाद।

हिंदी साहित्य में अक्सर ऐसा ही होता है ?

क्या कारण था ? कारण सहित बात है ये। क्या हुआ कि इमरजेंसी के समय में जो ग़ज़लें दुष्यन्तजी ने कही थीं, व्यवस्था के विरोध में। उस समय प्रगतिशीलता में मारधाड़ ज्यादा थी; जबकि ग़ज़ल में प्रगतिशीलता को नफासत में जोड़ कर प्रस्तुत किया गया था, चिंतन वही रहा। उन्होंने ग़ज़लें बड़ी मुहब्बत के साथ कहीं। कुछ मुहब्बत की कही और ज्यादातर क्रांतिकारी। सन् 1975 ई. में इमरजेंसी शुरू हुई थी, 1976 ई. के अप्रैल/मई का अंक दुष्यन्त कुमार पर केन्द्रित था। पत्रिका थी सारिका। संपादक थे कमलेश्वर। सारिका का उस समय बड़ा भारी ब्रेज था। कहानी की पत्रिका थी। साहित्यकारों के यहाँ भी और व्यापारियों के यहाँ भी आती थी जब ‘दुष्यन्तजी का स्मृति विशेषांक’ निकला, उस समय सारिका का सर्कुलेशन लगभग दो लाख था। पत्रिका के सारे पृष्ठ दुष्यन्त से भरे पड़े थे। हर पन्ने दुष्यन्त की फोटो, लेख, ग़ज़लें। वे एक महीने के अंदर इतने ही घरों में पहुँच गये। ग़ज़लें थीं— ‘पीर हुई पर्वत सी...’ ये सब नेताओं पर जाकर चिपक गये। इमरजेंसी और दुष्यन्तजी पर केन्द्रित स्मारिका का विशेषांक न होता तो दुष्यन्तजी आज उतने फेमस नहीं होते। मैंने रोमांटिक ग़ज़लें भी कहीं और प्रोग्रेसिव ग़ज़लें भी कहीं। ‘शामियाने काँच के’ में प्रगतिशील ग़ज़लें ही हैं—

सुलगी हुई कपास को ज्यादा न दाबिए।

चटके हुए ग्लास को ज्यादा न दाबिए।।

जबकि 'महावर इंतजारों के' में मेरे प्रेम की गज़लें हैं—

अपने मन में ही अचानक यूँ सजल हो जायेंगे।

क्या खबर थी आपसे मिलकर गज़ल हो जायेंगे।

'रस्सियाँ पानी की' में आया तो दर्शन पर आधारित गज़लें कही। प्रेम के साथ दर्शन की अभिव्यक्ति—

पूरी धरा भी साथ दे तो और बात है।

पर तू जरा भी साथ दे तो और बात है।।

इसके बाद जो संग्रह आये, सबमें चार किसी की, चार किसी की। जो गज़लें पहले लिखीं थीं, उन सबको बाँट लिया था। ये नहीं कि सोच के लिखी थी। हाँ, प्रकाशित कराते समय अलग-अलग कर दिया। एक तरह की मानसिकता वाली एक ओर और दूसरे तरह की मानसिकता वाली एक ओर। जब गज़ल की तरफ आया तो दूर तक आया। मेरी आदत में यह है कि मैं जिसमें प्रवेश करता हूँ, उसे पूरी तरह जानने की कोशिश करता हूँ। जब मेरा हाइकू संग्रह आया तो हाइकू विधा को जानने की कोशिश की। जापान गया।

कहीं अपनी बात कहने के लिए आपने बहर में छूट ले रखी है ?

शुरू के दिनों में मुझे बहर का ज्ञान नहीं था। प्रारंभ में मात्रिक छंद में थी वे, लेकिन गज़ल के छंद में चूक हो जाती थी। चूँकि मैं गा लेता था, इसलिए मात्राएँ अक्सर सही होती थीं। जब बाद में बहरों की जानकारी हुई तो पाया कि यह तो मात्रिक छंद है नहीं। वार्णिक छंद है और पूरी तरह से वार्णिक भी नहीं, बीच का है ये। फिर लगा कि वहाँ का व्याकरण दूसरी तरह का है और यहाँ का दूसरी तरह का है। दोनों के बीच एक पुल बनना चाहिए तो वही मैंने बनाया। मुफाईलुन, मुफाईलुन, मुफाईलुन— यमातागा, यमातागा।

आपकी पुस्तक 'हिंदी गज़ल का व्याकरण' कब आई थी ?

सन् 1996 ई. में।

इससे पहले 'हिंदी गज़ल' पर रोहिताश्व अस्थाना और सरदार मुज़ावर ने काम किया था। इस बारे में कुछ बताएँ।

रोहिताश्व अस्थाना ने तो मुझसे पूछकर काम किया। 'रस्सियाँ पानी में' 1987 ई. में आ चुकी थी। उसमें 28 पृष्ठों की भूमिका लिखी थी। जिसका रोहिताश्व अस्थाना ने सहारा लिया।

जी, आपको कई जगहों पर उद्धृत भी किया है।

हाँ, सरदार मुज़ावर भी मेरे पास गाजियाबाद आये थे। एक रात रुके थे और काफी चर्चा की थी। मेरा पहला संग्रह 'शामियाने काँच के' 1983 ई. में निकला, जिसमें मैंने गज़ल के बहरों के बारे में बतलाया था। अट्टारह पृष्ठों की लंबी भूमिका में।

आपने इमरजेंसी का दौर देखा, जहाँ से हिंदी गज़ल की मुकम्मल शुरुआत मानी जाती है। आपने बीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक देखा, जहाँ से भूमंडलीकरण ने साहित्य में जगह ली। शीतयुद्ध की समाप्ति हो रही थी, दुनिया बहुत तेजी से बदल रही थी। खास तौर से आपका गाजियाबाद तेजी से बदला। उस समय शहर और गाँवों की दूरी कम हुई, आर्थिक विषमताएँ तेजी से बढ़ीं। क्या इन सभी कारकों ने गज़ल की नफासत और उसकी मारक क्षमता को बढ़ाया।

शुरू में विद्रोह की गज़लें कही गईं। दुष्यंत जी का गहरा प्रभाव रहा। लेकिन अंतिम दशक तक आते-आते लोगों ने महसूस किया कि अकेले इसी से काम नहीं चलता, प्रेम भी है दुनिया में। इसके बाद आध्यात्मिक गज़लें भी कही, सामाजिक गज़लें भी कही, रिश्तों पर कही। अब मुनव्वर राना साहब माँ पर गज़लें कहते हैं, माना कि उर्दू के लोग उन्हें नकारते हैं कि गज़ल माँ पर थोड़े ही कही जाती है। वे लोग और तरीके से कहना चाहते हैं। देखा जाये तो नवगीतों में सबसे पहले परिवार वाला कॉन्सेप्ट आया था। गज़ल बाद में आया।

गाजियाबाद में मेरे बगल में रहते थे, उन्होंने 140 किताबें लिखीं। जब वे मिलते थे तो कहते थे कि यार तुमने तो तहलका मचा दिया। गज़ल में ये रंग कब आयेगा ? जहाँ तक नफासत और तेज धार की बात है तो वह किसी भी विधा के विकास के साथ बेहतर होती चली जाती है। गज़ल के साथ भी ऐसा ही है।

इस दौर में काफी संख्या में नये गज़लकार आये,

बहुत सी भटकी हुई दिशाएँ भी मिलीं, लोग एक तरफ से आये और दूसरी तरफ चले गये। टिक नहीं पाये। इस दौर में आपने क्या महसूस किया ?

दरअसल, क्या है, जब कोई विधा पॉपुलर होती है तो उसमें बहुत से लोग आते हैं। उसी में कुछ नकली लोग भी आ जाते हैं। माफ करना। और कुछ होते हैं, जो स्वाभाविक रूप से आ जाते हैं। जैसे मैं अपना ही उदाहरण दूँ, जब मैं चंदौसी से गाजियाबाद आया तो मेरे भीतर से अपने आप गीत आया और लोगों ने मुझे नवगीतकार घोषित कर दिया, जबकि मैं उसके बारे में नहीं जानता था। बाद में मेरे दो संग्रह नवगीत के आये। एक सहज धारा होती है। जब नवगीत चल रहा था तो बहुत से लोगों ने सोचा 'अंजुरी' शब्द का प्रयोग कर लो। 'अंजुरी भर धूप' कह लो। जो नकली लोग थे, उन्होंने उसे भोगा नहीं था। जिनके अंदर वास्तव में वो शब्द नहीं थे। जब उन्होंने शब्द की अभिव्यक्ति की तो उसमें अनुभूति की ईमानदारी गायब थी। ऐसा ही ग़ज़ल के साथ भी हुआ। हर आदमी ग़ज़ल कहने लगा। न उसे बहर का ज्ञान था, न उसे यह पता था कि ग़ज़लियत क्या होती है ? उसकी कहन क्या है ? यहाँ तक कि रदीफ़-काफ़िये का भी पता नहीं, फिर भी उन्होंने कहा कि ग़ज़ल है। लेकिन, इन्हीं से छनकर कुछ व्यक्ति निकले, जिन्होंने काम किया था, कर रहे थे। जो फ़िक्र कर रहे थे कि किस प्रकार से अपनी बात कही जाये।

अब, जब इक्कीसवीं सदी का पहला दशक समाप्त हो चुका है। स्त्री विमर्श और दलित विमर्श पूरी तरह से साहित्य की मुख्य धारा के रूप में उभरा है। यह बात हो रही है कि समकालीन कविता का नया नामकरण क्या होगा ? मैंने मदन कश्यप के समक्ष बात रखी कि अब दो पीढ़ियों का अंतर हो चुका है, ऐसे में 'समकालीन कविता' का नामकरण किया जाना चाहिए। नामकरण होता है तो 'स्त्री विमर्श' और 'दलित विमर्श' की कितनी भूमिका होगी ?

आपने 'स्त्री विमर्श' और 'दलित विमर्श' के बारे में कहा। क्या होता है कि ग़ज़ल तो ग़ज़ल है। अंदर से आ रही है। यह आप पर निर्भर करता है कि आपमें सामाजिक चेतना कितनी है ? ग़ज़ल न तो 'स्त्री विमर्श' की चीज है

और न ही 'दलित विमर्श' की। पूरी ग़ज़ल, पूरी कविता, पूरा लिटरेचर देखा जाये तो हमेशा शोषितों के समर्थन में होता है और शोषकों के खिलाफ़। चाहे कविता का कोई रूप लीजिए, सिर्फ़ ग़ज़ल ही नहीं। आज ग़ज़ल प्रेम से निकलकर, अध्यात्म से निकलकर सामाजिक सरोकारों तक पहुँची है। मैं ऐसे ही कह रहा हूँ, सामान्य-सी बात है, कई अखबारों में आता है। 'दलित महिला के साथ बलात्कार' दलित क्यों लगाया ? महिला से बात पूरी नहीं होती। दलित लगाते ही सियासी मामला हो जाता है। अरे ! नारी तो नारी है, चाहे वो दलित हो या ब्राह्मण हो। बलात्कार तो बलात्कार है। नारी विमर्श का मतलब केवल दलित तक सिमटाना नहीं है। आज सामाजिक सरोकार को सम्पूर्णता में रंगेंगे। इससे मतलब न रखें कि वह हिंदू है या क्रिश्चियन है या मुसलमान है। औरत कोई भी हो, औरत है। वह किस बिरादरी की है, इससे कोई मतलब नहीं। नारी विमर्श का मतलब तो पूरी नारी वर्ग से है। जो शोषित हो रही है, कहीं भी शोषित हो रही है। बड़े घरों की औरतें शोषित नहीं होतीं क्या ? ऊँचे घराने की औरतें इतनी प्रताड़ित होती हैं कि आप-हम कल्पना नहीं कर सकते। सवाल इस बात का है कि जब नारी विमर्श की बात करते हैं तो ग़ज़ल किसी को केन्द्र में नहीं रखती। जो उसे समाज में दिखाई दे रहा है, उसे अपनी भाषा में कहती है। पूरी ग़ज़ल में चाहे एक शेर इस संदर्भ का हो और समाज में जाकर चेतना पैदा करता हो तो यह बड़ी बात है। सामाजिक सरोकार से यह मतलब नहीं कि आप सोच के चले हैं। आपकी मानसिकता जैसी होगी, अभिव्यक्ति भी वैसी ही रहेगी। गुलाब के पौधे पर गुलाब का ही फूल आयेगा, चमेली का तो नहीं आयेगा न। उसे व्यक्तित्व आपने बना लिया है कि आप शोषण के विरुद्ध हैं तो वह आयेगा ही। मैं प्रगतिशील हूँ और शृंगार की रचना करता हूँ तो उसमें भी कहीं न कहीं वह आयेगा-

नदी बोली समंदर से, मैं तेरे पास आई हूँ।

मुझे भी गा मेरे शायर, मैं तेरी ही रुबाई हूँ।

इसी ग़ज़ल में आगे 'पसीने की कमाई' आती है, क्या ये पूँजीवादी सोच है ?

जी, नहीं।

नहीं, ये 'पसीने की कमाई' कहाँ से आ गया। ये मेरे व्यक्तित्व में है।

नयी पीढ़ी से लोग ग़ज़ल में आ रहे हैं। आपको उनसे उम्मीद है और उन्हें क्या मशविरा देना चाहेंगे ?

देखो ऐसा है, सोच तो उनकी ही होगी। हर आदमी की अलग-अलग फीलिंग है, लेकिन, जिस विधा में आये उस विधा की पूरी जानकारी रखनी चाहिए। उस विधा के छंद आदि का पता होना चाहिए। यदि आप दोहा कह रहे हो तो उसकी मात्राओं का ध्यान जरूरी है। जिस विधा में आये, उसका अध्ययन करें। समझें, जानें, सोचें। सोच उनकी होगी, कलात्मकता विधा की। मैं यहाँ 'कला, कला के लिए' नहीं कह रहा हूँ, लेकिन ग़ज़ल कह रहे हैं तो ग़ज़ल होनी भी चाहिए।

आप पुरानी पीढ़ी से हैं और नयी पीढ़ी से भी तालमेल रखते हैं। बहुत से लोगों को शिकायत होती है, नयी पीढ़ी से, आप क्या उम्मीद रखते हैं ?

नहीं, नहीं। हमेशा उम्मीद है। हम उम्मीद से बाहर कभी नहीं होते।

एक और खुशखबरी है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग भी अब 'उर्दू साहित्य का इतिहास' पढ़ा रहा है। कई ग़ज़लकारों को पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है और धीरे-धीरे ये इरादा और पुख्ता होता जा रहा है कि ग़ज़ल एक मुख्य विधा के रूप में आ रही है। क्या इससे ग़ज़ल और ग़ज़लकारों को लाभ मिलेगा ?

हाँ, बिल्कुल मिलेगा।

संपर्क :

डॉ. कुँअर बेचैन

2एफ 51, नेहरू नगर, गाजियाबाद- 201001 (उ.प्र.),
मो. 09818379422

लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता

शोध छात्र, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005, मो. 09455107472

प्रो. इंदुशेखर की कविता 'बस्ती' पर एक परिचर्चा गोष्ठी का आयोजन

पूर्णिया पाठक मंच, पूर्णिया के तत्त्वधान में कवि शिव नारायण शर्मा 'व्यथित' के आवास पर राज भाषा अधिकारी परशुराम की अध्यक्षता में एक साथ कई उत्कृष्ट काव्य-कृतियों के प्रणेता यशस्वी कवि इंदुशेखर की लंबी कविता 'बस्ती' पर एक परिचर्चा गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसका संचालन बालकृष्ण कुंवर ने किया। मंच से बोलते हुए कवि सुवंश ठाकुर अकेला ने कहा कि प्रो. इंदुशेखर सरस संवेदनशील, भावुक एवं लोकधर्मी कवि हैं; जिनके काव्यत्व में जीवन-मूल्यों की सुगबुगाहट देखने को मिलती है। समीक्षक एवं कथाकार अरुण अभिषेक ने कहा कि प्रो. इंदुशेखर की कविता 'बस्ती' सर्वोच्च मानदंडों के धरातल पर उकेरे गये जीवन मूल्यों की तलाश करती एक अनूठी एवं अनुपम प्रस्तुति है, जो सामाजिक सरोकारों से जुड़ी संवेदनाओं को परत-दर-परत उधेड़ती नज़र आती है। मंच के संयोजक शिव नारायण शर्मा व्यथित ने 'बस्ती' पर अपनी दृष्टि डालते हुए कहा कि प्रो. इंदुशेखर लोक चेतना संपन्न कवि हैं। इनकी कविता 'बस्ती' में गीतात्मक अभिव्यक्ति अपने उत्कृष्ट बिंदु पर है। पूर्णिया जनपद की चर्चित कवयित्री मंजुला उपाध्याय 'मंजुल' ने कहा कि, "बस्ती धर्म के ठेकेदारों को ललकारती, व्याभिचारियों के मुखौटे नोचती, उनके छद्मों को बेपर्दा करती दिखाई पड़ती है...। कवि उमेश पंडित उत्पल ने कहा कि आज समाज में व्याप्त छद्मों, कुरीतियों और विसंगतियों से आहत होकर कवि प्रो. इंदुशेखर ने बस्ती जैसी धारदार रचना का सृजन किया है। मुख्य अतिथि के रूप में बस्ती के कवि इंदुशेखर ने कहा कि "मेरी यह कविता अपने बिंबों के साथ कई रूपकों के माध्यम से गाँव, शहर या फिर समय समाज या व्यक्ति के टूटते भ्रमों और विसंगतियों के मानसिक धरातल की उन तमाम संवेदनाओं को तलाशती है, जो अपने भीतर के छद्म को तोड़ती नई चेतना को सामने लाती है। अपने अध्यक्षीय भाषण में परशुराम ने कहा कि सरल, सहज और सौम्य दिखने वाले उदार चेता कवि इंदुशेखर की कविता 'बस्ती' का अपना एक मौलिक आस्वाद है, जिसका भाषा-शिल्प अपने अनूठे अंदाज में है। इस परिचर्चा गोष्ठी में पूनम मिश्रा, अलका कौशिक, रेखा आनंद, राखी आनंद, उज्ज्वल अभिषेक, लवली, नरेश, राजू गीरापु, मनोज सिन्हा, शैवाल मित्रा एवं अनुकृति के साथ-साथ काफी संख्या में शिक्षाविद्, पाठक एवं श्रोतागण उपस्थित थे।

दिनांक 18-07-2015

प्रस्तुति- शिव कुमार शर्मा 'व्यथित'

'जिसे छे छचा देखना चाहते हैं' का लोकार्पण

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक डॉ. राधाकृष्णनन सभागार में 03 अगस्त, 2015 को लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता के पहले काव्य-संग्रह 'जिसे वे बचा देखना चाहते हैं' का लोकार्पण हुआ। इस कार्यक्रम के मुख्य अतिथि प्रो. अनिल कुमार त्रिपाठी ने अपने समय की चिंता और चुनौतियों की गहरी पहचान को लक्ष्मण की कविताओं का महत्वपूर्ण पक्ष बताया। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे प्रो. रामकीर्ति शुक्ल ने लक्ष्मण की प्रेम कविताओं को अपने समय की उपलब्धि बताते हुए कहा, "आश्चर्य होता है कि इतनी कम उम्र में लक्ष्मण की प्रेम कविताएँ बेहद संजीदा हैं। इन कविताओं में विमर्श का बोझिलपन शामिल नहीं। भाव और भाषा का जबर्दस्त सामंजस्य है।" वहीं हिंदी के वरिष्ठ आलोचक प्रो. अवधेश प्रधान ने कहा, "यह सहसा विश्वास नहीं होता कि यह किसी कवि का पहला संग्रह है। इसकी भाषा बहुत ही प्रौढ़ है। छोटी-छोटी कविताएँ व्यापक

भाव-बोध समेटे हुए हैं।” अपनी भाषा और शैली के लिए विशेष रूप से ख्यातिलब्ध प्रो. चंद्रकला त्रिपाठी ने लक्ष्मण की कविताओं में फैले विस्तृत अनुभव संसार की ओर इशारा किया। उन्होंने कहा, ‘लक्ष्मण की कविताओं के केन्द्र में रिश्ते हैं- घर-परिवार के, आस-पड़ोस के और इस प्रकृति के जिसके बिना कुछ भी संभव नहीं।’ जहाँ यू.जी.सी. अकादमिक स्टाफ कॉलेज, बी.एच.यू. के निदेशक प्रो. आनंदवर्धन शर्मा ने लक्ष्मण की गज़लों की ओर श्रोताओं का ध्यान आकर्षित किया, वहीं डॉ. मनोज कुमार सिंह ने कहा, “लक्ष्मण की कविताएँ पाठकों से संवाद करती हुई, संवादधर्मी कविता है और वह पाठक को भी सर्जक बनाती चलती है। यह इस नये कवि की उपलब्धि है।” डॉ. रामाज्ञा शशिधर ने इन कविताओं में निहित आख्यान को कविताओं की उपलब्धि के रूप में देखा। उनका कहना था, “जब हमारे समय में कविता से आख्यान गायब होते जा रहे हैं, लक्ष्मण की कविताओं में उसकी बड़ी मात्रा में मौजूदगी निश्चित रूप से कविता की उपलब्धि मानी जानी चाहिए।” युवा आलोचक डॉ. सत्यपाल शर्मा ने लक्ष्मण की कविता के चार महत्वपूर्ण आयाम बताये और कहा, “ढोल नगाड़ों वाली कविताओं के इस दौर में श्रम रत स्त्री का संघर्ष दिखाई पड़ता है।” कार्यक्रम में प्रो. कृष्णमोहन पांडेय, जगन्नाथ दूबे, आसिम अंसारी, पल्लवी, दिनेश और कृति त्रिपाठी ने भी लक्ष्मण कवि की कविताओं के विविध पक्षों को प्रकट किया। राजेश यादव ने लक्ष्मण की दो गज़लों को स्वर देकर वातावरण में मिठास घोल दी। अतिथियों का स्वागत प्रो. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी ने किया। धन्यवाद ज्ञापन हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो. अशोक सिंह ने दिया। कार्यक्रम का संचालन मानवेंद्र प्रताप सिंह ने किया।

जिसे वे बचा देखना चाहते हैं, (काव्य संग्रह)

लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता

अंतिका प्रकाशन: सी-56/यू.जी.एफ.-4, शालिमार गार्डन, एक्सटेंशन-II, गाजियाबाद- 201005 (उ.प्र.)

मूल्य : 235/-

प्रस्तुति- अनामिका, शोध छात्रा हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय

कलकत्ता विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन

हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष हॉल में विगत 1 सितम्बर को कहानी पाठ एवं राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ। उक्त संगोष्ठी के प्रथम सत्र में कुशेश्वर ने ‘सलीम धोनी मर गया’, सेराज खान बातिश ने ‘पतझड़ के बाद’, अभिज्ञात ने ‘मैं सूर्य देखना चाहता हूँ’, कमल ने ‘सोने का हिरण’ और प्रो. सोमा बंद्योपाध्याय ने ‘रेस का घोड़ा’ शीर्षक अपनी कहानियों का पाठ किया। प्रो. अरुण होता ने इन कहानियों को समीक्षित करते हुए कहा, “समकालीन कहानियाँ मुख्यतः बाजारवाद को केन्द्रित कर लिखी जा रही हैं जिससे कि गाँव में बसे भारत का जो सत्य है, वह छूटता जा रहा है।” सत्र का संचालन विवेक सिंह ने किया।

दूसरे सत्र में ‘समकालीन हिंदी कहानियों में समाज’ विषय पर प्रमुख वक्ता प्रो. अरुण कुमार (रांची विश्वविद्यालय), प्रो. अमरनाथ, प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी ने अपने विचार रखे। प्रो. अरुण कुमार ने कहा कि अभी भी ग्रामीण जीवन का यथार्थ; कहानियों में व्यक्त हो रहा है। आज के नवोदित कहानीकार नयी संभावनाओं से लैस हैं। प्रो. अमरनाथ ने कहानीकारों का समाज से उनके जुड़ाव पर अधिक जोर दिया। प्रेमचंद के बाद आज तक उनके जैसा बड़ा कथाकार नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि आज के कथाकार को और अधिक दायित्वपूर्ण होने की आवश्यकता है। प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी ने कहा कि कथा साहित्य के लिए आवश्यक है कि कथाकार के पास अपनी दृष्टि हो। वह समाज के प्रति प्रतिबद्ध है; यह बात उसे नहीं भूलनी चाहिए। इस सत्र का सफल संचालन डॉ. शुभ्रा उपाध्याय ने किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में कहानी पाठ पर केन्द्रित यह सेमिनार ज्ञानवर्द्धक रहा और विद्यार्थियों को नये कथा-साहित्य का परिचय प्राप्त हुआ।

प्रस्तुति- परमजीत कुमार पंडित

कथा-आलोचना पर केंद्रित 'मुक्तांचल' का अप्रैल-जून 2015 का अंक मिला। धन्यवाद!

रचनाशीलता के विविध साहित्यिक आंदोलनों से होता हुआ कथा-साहित्य कल्पना के स्वप्नलोक से तो कभी का आजाद हो चुका था, किंतु अब तो वह साहित्य की सर्वाधिक जीवंत विधा के रूप में स्वीकृति भी पा चुका है। निःसंदेह समीक्षा-समालोचना के क्षेत्र में अभी इसको साहित्यिक निकष के और भी श्रेष्ठ मानक स्थापित करने हैं। आप का यह अंक उस यात्रा को आगे बढ़ाने में सहायक होगा।

इस अंक में कथालोचना की दशा और दिशा पर डॉ. राणा प्रताप ने सार्थक विचार व्यक्त किये हैं। विमर्श, अंतःपाठ और गवेषणा के शीर्षकों में जीवन बोध की संभावनाओं को कहानी में अन्वेषित किया गया है। कविता, कहानी, भाषांतर, संचार तथा गतिविधियाँ और अभिमत सभी स्तंभ सारगर्भित संदर्भों से युक्त हैं।

उच्च कोटि की साहित्यिक सामग्री के संकलन संपादन के लिए प्रशंसा करता हूँ।

सूर्यप्रसाद शुक्ल, कानपुर

मैंने एक पत्र लिखकर पत्रिका के अप्रैल-जून 2015 अंक की प्राप्ति-सूचना दे दी थी। अंक को मैंने इधर पढ़ा तो लगा कि आपको कहानी पर अपेक्षित लेख प्राप्त नहीं हुए। इसलिए इसे कथालोचना केन्द्रित अच्छे अंक के रूप में याद नहीं किया जा सकता। अगर आप इसमें कुछ पूर्व प्रकाशित अच्छे लेखों को भी शामिल कर लेतीं तो ज्यादा अच्छा होता। वैसे किसी विशेषांक के लिए अच्छे लेखकों, आलोचकों के लेखों का इंतजार भी करना पड़ सकता है। यों आप भी परिश्रम कीजिए और थोड़ी लंबी संपादकीय टिप्पणी अथवा लेख लिखकर अपनी संपादकीय क्षमता का उपयोग करें। अगले अंक से ही इसकी शुरुआत कर दें। अब तो आपके पास समय भी है।

रामनिहाल गुंजन, आरा

'मुक्तांचल' का अप्रैल-जून 2015 का अंक विशिष्ट है। विशिष्ट इस मायने में कि गीत, गज़ल, कविता, कहानी, फिल्म और विशेष साहित्यकार के कृतित्व, व्यक्तित्व पर केन्द्रित कई विशेषांक निकलते हैं। पर शायद यह पहली बार हुआ है कि कथालोचना पर केन्द्रित यह विशेष अंक है। यह एक अच्छी पहल है और मेरी व्यक्तिगत मंशा है कि इसका और विस्तार होना चाहिए। अंक के सभी आलोचकों ने समकालीन कहानी की संरचना, विचारधारा और प्रवृत्तियों पर गंभीरता पूर्वक विचार किया है।

विष्णु चंद्र शर्मा की कविताएँ प्रभावित करती हैं तथा बार-बार पढ़ने गुनने का आग्रह भी। चांद शेरी, डॉ. नलिन की गज़लें अच्छी हैं। रामदरश मिश्र की कहानी 'चंपा' पढ़ी हुई है। इसे पुरखों के कोठार में डालते तो अच्छा होता। अंक पठनीय रचनात्मक सामग्री का सुख है।

शिवकुमार अर्चन, भोपाल

‘मुक्तांचल’ का अंक समय से मिल गया था, फोन पर बात भी हुई थी। पत्रिका शोध, समीक्षा, सृजन और संचार के अपने लक्ष्य को साधती हुई जिस प्रकार आगे बढ़ रही है, शीघ्र ही साहित्य जगत में अपनी विशिष्ट पहचान बना लेगी। रचनाओं के साथ रेखांकन/चित्रांकन छापें तो पत्रिका और भी आकर्षक हो जाएगी।

अशोक अंजुम, अलीगढ़

‘मुक्तांचल’ प्राप्ति स्थान

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

मानव प्रकाशन : 131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

ओम न्यूज एजेंसी : रंगमहल टाकीज के सामने, न्यू मार्केट भोपाल

श्री सुमन कुमार : प्रगतिशील पुस्तक भंडार, इलाहाबाद बैंक के सामने,
अशोक राजपथ, पटना-800004

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन : 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

ज्ञानदीप : नियर फिरारालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

केंद्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साहित्य हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मोडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ■ अफगानिस्तान के नानगरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-**डॉ. कमल किशोर गोयनका**

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

-**प्रो. मोहन**

निदेशक

ई-मेल : mohanhindu_du@yahoo.co.in

इस पार तक...

प्रो. मालेश्या मादिवलप्पा कलबुर्गी
(28 नवंबर 1938 - 30 अगस्त 2015)



‘जो जड़ है वह नष्ट हो जाता है, जो गतिमान है, वह नष्ट नहीं होता’ यह पंक्ति प्रो. कलबुर्गी के लिखे बसपन्ना के जीवन पर आधारित नाटक ‘केहितु कल्याण’ (कल्याण का पतन) में बार-बार दोहराई जाती है। इन पंक्तियों में कलबुर्गी का जीवन-दर्शन गूँजता है।

कलबुर्गी का जन्म 28 नवम्बर, 1938 को कर्नाटक के बिजापुर जिले के वारागल गाँव में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा बिजापुर में हुई थी। कर्नाटक विश्वविद्यालय से उन्होंने कन्नड़ भाषा में स्नातकोत्तर की डिग्री हासिल की तथा वहीं पर 1966 से 1982 तक प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहे। उन्होंने इसी विश्वविद्यालय से कन्नड़ में अपना शोध कार्य सम्पन्न किया। उनकी सूँ से भी अधिक पुस्तकें और लगभग चार सौ आलेख प्रकाशित हैं। वे ‘कन्नड़ साहित्य एकेडेमी बोर्ड’ के सलाहकार भी थे।

वस्तुतः कलबुर्गी सच के लिए सत्ता से टकराने में भी नहीं चूकते थे। वे कन्नड़ साहित्य को दुनिया के उन महत्वपूर्ण लोगों में से थे जिन्होंने कर्नाटक क्षेत्र के इतिहास को प्रशिक्षित इतिहासकारों से भी अधिक दक्षता और वैज्ञानिकता के साथ उद्घाटित किया।

इसी वर्ष के जून माह में प्रो. कलबुर्गी ने एक भाषण में अपनी इतिहास दृष्टि का खुलासा इन शब्दों में किया था “ऐतिहासिक तथ्यों पर दो तरह के शोध-कार्य होते हैं। एक वह होता है जो सत्य की खोज पर समाप्त होता है, दूसरा उसके आगे जाकर वर्तमान का पथ-प्रदर्शक बनता है। जहाँ पहले किस्म का शोध कार्य महज अकादमिक होता है, वहीं दूसरे वाले में वर्तमान का मार्ग दर्शन होता है। वक्त का तकाज़ा है कि इन दूसरे किस्म के शोध-कार्यों पर जोर दिया जाए जो वर्तमान के सवालों से इतिहास से मिलने वाली सीख की रोशनी में रूब-रू होते हैं।”

कलबुर्गी कन्नड़ भाषा के वचन साहित्य की शरणों की विवेकवादी परम्परा के वाहक थे। वसव युग कन्नड़ साहित्य का मध्ययुग है जिसकी समय सीमा सन् 1150 से 1400 ई. मानी जाती है। वसव युग में एक नई क्रांति का सूत्रपात हुआ। वचन साहित्य ने पूर्ववर्ती जड़ परम्पराओं और रूढ़ियों को तोड़कर जीवन और साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। 12वीं सदी के क्रांतिकारी संत बसवेश्वर के क्रांतिकारी जीवन और दर्शन की समकालीन प्रासंगिकता एवं अद्यतन व्याख्या को उन्होंने अपने लेखन में सुरक्षित रखा है। जड़ता और यथास्थितिवाद की ताकतों ने उनके भौतिक जीवन को भले ही खत्म कर दिया हो लेकिन उनके विचारों की गतिमानता को कोई नहीं नष्ट कर सकता।

कलबुर्गी की हत्या अभिव्यक्ति की आजादी की हत्या है। कलबुर्गी के क्रांतिकारी विचारों का अभिनंदन करते हुए उनके प्रति श्रद्धावन्त हैं, मुक्तांचल परिवार।

Application No:1254088

Title code: WBHINO1615/25/1/2014-TC, Dtd: 18/07/2014

हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पातुई,
शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन,
सालकिया, हावड़ा- 711106 से प्रकाशित।

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा